www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

मानव जीवन का महान कर्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-6)

पूज्यश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में से
सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विभिन्न लेखों का संग्रह
तथा मुमुक्षुओं द्वारा लिखित सम्यग्दर्शन सम्बन्धी लेख

गुजराती संकलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, जिला भीलवाड़ा (राज०)

प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस.लि., वी.एल. मेहता मार्ग,
विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056; फोन : (022) 26130820

सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)-364250; फोन : 02846-244334

www.vitragvani.com

प्रकाशकीय

यह एक निर्विवाद सत्य है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है एवं निरन्तर उसी के लिए यत्नशील भी है; तथापि यह भी सत्य है कि अनादि से आज तक के पराश्रित प्रयत्नों में जीव को सुख की उपलब्धि नहीं हुई है।

धार्मिक क्षेत्र में आकर इस जीव ने धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक प्रकार के क्रियाकाण्ड-व्रत, तप, नियम, संयम इत्यादि अङ्गीकार करके भी सुख को प्राप्त नहीं किया है। यही कारण है कि वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा की सातिशय वाणी एवं तत्मार्गानुसारी वीतरागी सन्तों की असीम अनुकम्पा से सुखी होने के उपाय के रूप में पर्याप्त दशानिर्देश हुआ है।

वीतरागी परमात्मा ने कहा कि मिथ्यात्व ही एकमात्र दु:ख का मूल कारण है और सम्यग्दर्शन ही दु:ख निवृत्ति का मूल है। मिथ्यात्व अर्थात् प्राप्त शरीर एवं पराश्रित विकारी वृत्तियों में अपनत्व का अभिप्राय /इसके विपरीत, सम्यग्दर्शन अर्थात् निज शुद्ध-ध्रुव चैतन्यसत्ता की स्वानुभवयुक्त प्रतीति।

इस वर्तमान विषमकाल में यह सुख-प्राप्ति का मूलमार्ग प्राय: विलुप्त -सा हो गया था, किन्तु भव्य जीवों के महान भाग्योदय से, वीतरागी प्रभु के लघुनन्दन एवं वीतरागी सन्तों के **परम उपासक अध्यात्ममूर्ति पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** का इस भारत की वसुधा पर अवतरण हुआ। आपश्री की सातिशय दिव्यवाणी ने भव्य जीवों को झकझोर दिया एवं क्रियाकाण्ड की काली कारा में कैद इस विशुद्ध आध्यात्मिक दर्शन का एक बार पुनरोद्धार किया।

आपश्री की सातिशय अध्यात्मवाणी के पावन प्रवाह को झेलकर उसे रिकार्डिंग किया गया जो आज सी.डी., डी.वी.डी. के रूप में उपलब्ध है। साथ ही आपश्री के प्रवचनों के पुस्तकाकार प्रकाशन भी लाखों की संख्या में उपलब्ध है, जो शाश्वत् सुख का दिग्दर्शन कराने में उत्कृष्ट निमित्तभूत है। इस उपकार हेतु पूज्यश्री के चरणों में कोटिश नमन करते हैं।

इस अवसर पर मुमुक्षु समाज के विशिष्ट उपकारी **प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन** के प्रति अपने अहो भाव व्यक्त करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है।

जिन भगवन्तों एवं वीतरागी सन्तों के हार्द को स्पष्ट करनेवाले आपके प्रवचन ग्रन्थों की शृंखला में ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़ द्वारा संकलित प्रस्तुत '**मानव-जीवन का महान कर्तव्य-सम्यग्दर्शन भाग-6**' प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राज.) द्वारा किया गया है।

सभी आत्मार्थी इस ग्रन्थ के द्वारा निज हित साधें — यही भावना है।

निवेदक

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

निवेदन

भगवान महावीर के ढाई हजार वर्षीय निर्वाण महोत्सव के इस मंगल वर्ष में, सम्यग्दर्शन सम्बन्धी पुस्तकों की श्रेणी में से आज छठवाँ पुस्तक साधर्मीजनों के हाथ में प्रदान करते हुए आनन्द होता है।

ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर मोक्ष पधारे और अपने को भी मोक्ष का सन्देश प्रदान कर गये कि हे भव्यों! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्षमार्ग है; उस मार्ग से हम मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और तुम भी मुक्त होने के लिये इस मार्ग का सेवन करो।

अहा! भगवान द्वारा बताया हुआ मार्ग, महा आनन्द का मार्ग है। आज भी श्रीगुरुओं के प्रताप से वह मार्ग चल रहा है। इस मार्ग का मूल सम्यग्दर्शन... अहो! सच्चा सुखी जीवन प्रदान कर मोक्षमार्ग का खोलनेवाला सम्यग्दर्शन-इसकी महिमा की क्या बात! इसकी जितनी महिमा करें उतनी कम है। ऐसे सम्यक्त्व का मार्ग इस काल में स्पष्ट करके पूज्य गुरुदेवश्री ने मुमुक्षु जीवों को निहाल किया है। आत्मा का सच्चा स्वरूप प्रतिबोधकर निरन्तर वे भव्य जीवों को सम्यक्त्व के मार्ग में ले जा रहे हैं। आज सम्यग्दृष्टि जीवों का दर्शन और सम्यक्त्व की आराधना आपश्री के प्रताप से ही सम्प्राप्त हैं। वह आपश्री का महान उपकार है।

भगवान महावीर और समस्त तीर्थंकर भगवन्तों ने अपने को जो इष्ट उपदेश दिया है, उसका मन्थन करते-करते उसमें से सम्यग्दर्शन का अमृत निकलता है। सर्व सिद्धान्त के साररूप सम्यग्दर्शन, वह आत्मा का सच्चा जीवन है। मिथ्यात्व में तो निज स्वरूप की सच्ची सत्ता ही दिखाई नहीं देती थी। इसलिए उसमें भाव मरण से जीव दु:खी था और सम्यक्त्व

www.vitragvani.com

में अपने स्वरूप का स्वाधीन उपयोगमय आनन्द भरपूर अस्तित्व स्पष्ट वेदन में आता है। इसलिए सम्यक्त्वमय जीवन परम सुखमय है। ऐसा सुन्दर निज वैभव सम्पन्न सुखी जीवन प्राप्त करने के लिए, हे मुमुक्षु जीवों! श्री गुरुओं द्वारा बताये हुए आत्मा के परम महिमावन्त स्वरूप को लक्ष्यगत करो, बारम्बार गहरी भावना से उसका चिन्तन करके, आत्मरस चखकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करो–यही मुमुक्षु जीवन की सच्ची शोभा है। (इस पुस्तक में अन्त में दिये गये सम्यक्त्व जीवन सम्बन्धी आठ लेख आपको ऐसे सुन्दर जीवन की प्रेरणा प्रदान करेंगे।)

जिज्ञासु जीवों को सम्यग्दर्शन की अपार–अपार महिमा ख्याल में आवे, उसकी आवश्यकता समझकर उसकी प्राप्ति की आकांक्षा जागृत हो और उसकी प्राप्ति का स्पष्टमार्ग समझकर सम्यक्त्व को प्राप्त करे ऐसी मंगल भावनापूर्वक यह सम्यग्दर्शन पुस्तक इस जगत में सम्यक्त्वमार्ग को सदा प्रकाशित करती रहे... और साधर्मीजन शीघ्र इस मार्ग में आयें, यही भावना!

जय महावीर

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी
वीर संवत् २५०१

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत्

www.vitragvani.com

सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

www.vitragvani.com

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण

www.vitragvani.com

किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य

www.vitragvani.com

जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 – फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ,

www.vitragvani.com

जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

www.vitragvani.com

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप,

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

❖ एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। ❖ प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। ❖ उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं। ❖ उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है। ❖ पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं। ❖ भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती। ❖ भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। ❖ चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। ❖ स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है। ❖ ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

www.vitragvani.com

अनुक्रमणिका

लेख	पृष्ठ
श्री वीरनाथ को वन्दना.....	1
महावीर सन्देश सम्यग्दर्शन.....	2
आज ही अनुभव कर सन्तों का तुझे आशीर्वाद है.....	3
सुखी होने का आशीर्वाद.....	4
इष्ट की प्राप्ति का उपदेश.....	7
सम्यग्दर्शन की आराधना का उपदेश.....	10
केवली भगवान की क्षायिकी क्रिया.....	23
सम्यक्त्व महिमा.....	24
आत्मसाधना के लिये उपयोगी बात.....	30
सिद्धत्व के हेतुभूत भावना.....	31
भाई-बहन की धर्मचर्चा.....	38
स्वभाव-अवलम्बी ज्ञान की अगाध ताकत.....	41
तत्त्वचर्चा.....	47
धर्मी को सम्यक्त्वधारा निरन्तर चालू है.....	50
धन्य है उनको... जो स्वानुभव की चर्चा करते हैं.....	54
सम्यग्दृष्टि का समस्त ज्ञान सम्यक् है.....	59
'केवलज्ञान का टुकड़ा'.....	64
निर्विकल्प-स्वानुभूति होने का सुन्दर वर्णन.....	67
निर्विकल्प अनुभव के समय की स्थिति का वर्णन.....	74
स्वानुभूति का रंग चढ़ जाये-ऐसी बात.....	79
स्वानुभवज्ञान और उस समय के विशिष्ट आनन्द का वर्णन.....	83

www.vitragvani.com

लेख	पृष्ठ
केवलज्ञान का निर्णय कौन कर सकता है ?.....	99
सम्यक्त्व, वीतरागभाव है.....	102
स्वभाव के अनुभवशील और विभाव के.....	104
आत्मा में गहरे-गहरे.... संसार से दूर-दूर.....	115
पञ्चम काल भी धर्म काल है.....	116
समकित सावन आयो.....	118
सर्वज्ञस्वभावी आत्मा.....	121
श्रावक के इक्कीस गुणों का वर्णन.....	125
उलझन और शान्ति.....	132
दान.....	133
पुण्य-पाप के सच्चे न्याय अनुसार.....	134
आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव की अद्‌भुतता.....	140
[सम्यक्त्व सम्बन्धी लेखमाला]	
सम्यक्त्व-जीवन (लेखांक-9).....	143
आत्मा को जाने बिना सब निष्फल है(लेखांक 10).....	149
जिज्ञासु का प्रथम कर्तव्य..... (लेखांक 11).....	154
जिज्ञासु का प्रथम कर्तव्य..... (लेखांक 12).....	164
शीघ्रता से आनन्दधाम..... (लेखांक 13).....	169
आत्मसन्मुख जीव (लेखांक 14).....	178
सम्यक्त्व का अपूर्व क्षण (लेखांक 15).....	181
अप्रतिहत मुमुक्षु दशा (लेखांक 16).....	184
आनन्दमय स्वानुभूति प्रकाश.....	187

www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

मानव जीवन का महान कर्त्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-6)

श्री वीरनाथ को वन्दना

जो जानता महावीर को चेतनमयी शुद्धभाव से;
वह जानता निज आत्म को समकित लहे आनन्द से॥

अहो, सर्वज्ञ महावीरदेव! शुद्ध चेतनारूप हुए आप, सर्व प्रकार से शुद्ध हो; रागादि का कोई अंश आपमें नहीं है। आपके ऐसे स्वरूप को पहिचानने से, चैतन्य और राग की अत्यन्त भिन्नता जानकर आत्मा के सत्य स्वरूप का भान हुआ, आनन्दमय सम्यक्त्व हुआ, यह आपका परम उपकार है। भव्य जीवों को सम्यक्त्व प्रदान करनेवाला आपका शासन जयवन्त है। सम्यग्दृष्टि जीवों से आप वन्दनीय हैं। मोक्ष के हेतुभूत ऐसे हे महावीर भगवान! आपको हमारी वन्दना है।●

www.vitragvani.com

महावीर सन्देश
सम्यग्दर्शन

भगवान महावीर द्वारा बतलाया गया जो मोक्ष का मार्ग, उसका मङ्गल द्वार सम्यग्दर्शन द्वारा खुलता है। महावीर भगवान के सन्देश-अनुसार तत्त्व का स्वरूप जानकर, आत्मा की लगन से उसका अभ्यास करते-करते एक ऐसा अपूर्व क्षण आता है कि आत्मा, मिथ्यात्व से छूटकर चैतन्य के परम गम्भीर शान्तरस में स्थिर हो जाता है। स्वयं का अत्यन्त सुन्दर महान अस्तित्व पूरा-पूरा स्वसंवेदनपूर्वक प्रतीति में आ जाता है-यही है सम्यग्दर्शन! यही है साध्य की सिद्धि! यही है मङ्गल चैतन्य प्रभात! और यही है प्रभु महावीर का सन्देश!

प्रिय साधर्मियों! तुम भी यह मङ्गल सन्देश झेलकर आनन्द से प्रभु के मार्ग में आओ।

www.vitragvani.com

आज ही अनुभव कर

सन्तों का तुझे आशीर्वाद है

अन्तर में परम सर्वोत्कृष्ट प्रेम लाकर आत्मा को जानने से आनन्दसहित वह अनुभव में आता है। श्रीगुरु कहते हैं कि—अरे मुमुक्षुजीवों! तुम्हारा हित करने के लिये, आनन्द का अनुभव करने के लिये, धीरे-धीरे नहीं परन्तु शीघ्र—अभी ही आत्मा का उत्कृष्ट प्रेम करो... अन्तर में आत्मा की धुन जगाकर आज ही उसे अनुभव में लो... उसमें विलम्ब मत करो। 'अभी दूसरा और आत्मा बाद में'-ऐसा विलम्ब मत करो, सबका प्रेम छोड़कर आत्मा का प्रेम आज ही करो। आत्मा के हित के कार्य को गौण मत करो। अभी ही हित का अवसर है, हित के लिये अभी ही उत्तम चोघड़िया है। ऋषभदेव भगवान के जीव को सम्यक्त्व का उपदेश प्रदान करते हुए मुनिराज ने कहा था कि —

रे ग्रहण कर सम्यक्त्व को, तत्प्राप्ति का है काल यह!

तत् गृहाण आद्य सम्यक्त्वं तत्लब्धये काल एष ते!

और तुरन्त ही उस जीव ने सम्यक्त्व को ग्रहण किया... उसी प्रकार हे जीव! श्रीगुरु का उपदेश प्राप्त करके तू भी आज ही सम्यक्त्व को ग्रहण कर।

तेरे हित के लिये सन्तों का तुझे आशीर्वाद है।●

www.vitragvani.com

तेरे हित के लिये सन्तों का तुझे अपूर्व आशीर्वाद है

सुखी होने का आशीर्वाद

अतीन्द्रियसुख, वह आत्मा का स्वयं का स्वभाव है, उस सुख के लिये उसे दूसरी किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती। अहा! आत्मा का ऐसा स्वाधीन अतीन्द्रियसुख किसे नहीं रुचेगा? रागरहित इस महान आनन्द की वार्ता सुनते हुए किस मुमुक्षु के हृदय में आनन्द नहीं होगा? मुमुक्षु जीव किसी भी बाह्य पदार्थ से रहित आत्मा के सुख को उत्साह से स्वीकार करता है कि वाह! यह तो मुझे परम इष्ट है, आत्मा का सुख मुझे अत्यन्त प्रिय है-इस प्रकार भव-दु:ख से थका हुआ जीव, आत्मा के स्वभाव-सुख को उत्साह से स्वीकार करता है। इस प्रकार उत्साह से अपने स्वभाव -सुख को स्वीकार करता हुआ वह मुमुक्षु, उस स्वभाव में उतरकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और अतीन्द्रियसुख का स्वाद चख लेता है।

अहा! कुन्दकुन्दस्वामी ने और सर्व सन्तों ने हृदय खोल-खोलकर जो सुख के गीत गाये हैं, उस सुख के अनुभव की क्या बात! भगवान महावीर के मार्ग के अतिरिक्त ऐसा सुख दूसरा कौन बताये? श्रीगुरु आशीर्वाद देते हैं कि हे भव्यजीवों! महावीर के मार्ग को सेवन करो और आत्मा के सुख को प्राप्त करो।

अभी भगवान के मोक्ष के ढाई हजार वर्ष का मङ्गल उत्सव चल रहा है। जिस प्रकार बुजुर्ग मङ्गल प्रसङ्ग पर आशीर्वाद देते हैं कि तुम सुखी होओ! उसी प्रकार आनन्द रस को पीनेवाले वीतरागी सन्त मोक्ष साधने के मङ्गल प्रसङ्ग पर आशीर्वाद देते हैं कि हे

www.vitragvani.com

भव्य! तू ज्ञानचेतनारूप होकर सादि-अनन्त काल तेरे चैतन्यसुख को भोग!

तेरे सुखस्वभाव को पहचान कर तू सुखी हो। ऐसा सुखी हो कि पुनः अनन्त काल में कभी दुःख नहीं आवे।

आत्मा का अतीन्द्रियज्ञान, एकान्त सुख है। ज्ञानस्वभाव जहाँ है, वहाँ सुखस्वभाव भी है ही; इसलिए गुणभेद न करो तो जो ज्ञान है, वही सुख है। जो अतीन्द्रियज्ञानरूप से परिणमित आत्मा, वह स्वयं ही अतीन्द्रियसुखरूप है। आत्मा में ज्ञानपरिणमन के साथ सुखपरिणमन भी शामिल ही है। सुखरहित ज्ञान या ज्ञानरहित सुख नहीं होता है।

कोई कहे कि हमें आत्मा का ज्ञान नहीं परन्तु हम सुखी हैं, तो अतीन्द्रियज्ञान के बिना उसका सुख, वह सच्चा सुख नहीं है; उसने मात्र बाह्य विषयों में सुख की कल्पना की है और वह कल्पना मिथ्या है। विषयों की आकुलता में सुख कैसा? सुख तो अतीन्द्रियज्ञान में है। ज्ञान के बिना सुख नहीं होता।

कोई कहे कि हमें ज्ञान हुआ है परन्तु सुख नहीं है-तो उसने भी मात्र इन्द्रियज्ञान को ही ज्ञान माना है, वह सच्चा ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो आकुलतारहित सुखस्वरूप होता है। सुख के वेदनरहित का ज्ञान कैसा? वह ज्ञान नहीं परन्तु अज्ञान है।

इस प्रकार ज्ञान और सुख, ये दोनों आत्मा का स्वभाव है। प्रभो! तेरा ज्ञान और तेरा सुख दोनों अचिन्त्य, इन्द्रियातीत, अद्भुत है; उसे पहचाननेवाला ज्ञान, इन्द्रियों से पार होकर अतीन्द्रिय-महान ज्ञानसामान्य में झुककर तन्मय होता है और तब अपने में ही उसे महान सुख का अनुभव होता है। अहो! ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान

www.vitragvani.com

और सुख तो मेरा स्वभाव ही है। मैं मेरे स्वभाव से ही ऐसे महान ज्ञान और सुखरूप होता हूँ; उसमें जगत के दूसरे किसी की अपेक्षा मुझे नहीं है। अरे! सुख में तन्मय हुई मेरी ज्ञानचेतना को जहाँ राग के साथ भी सम्बन्ध नहीं, वहाँ बाहर में दूसरे किसी के साथ सम्बन्ध कैसा? इस प्रकार धर्मी जीव अपनी ज्ञानचेतना में किसी भी परभाव को नहीं मिलाता; शुद्ध ज्ञान-उपयोगरूप से परिणमते-परिणमते वह मोक्ष के महान आनन्द को साधता है।

– यह है मोक्ष का मङ्गल उत्सव!

www.vitragvani.com

इष्ट की प्राप्ति का उपदेश

आत्मा का अतीन्द्रियसुख, मुमुक्षु को इष्ट है, उसकी प्राप्ति का उपदेश ही इष्ट-उपदेश है; दूसरा कोई उपदेश हमें इष्ट नहीं लगता।

अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव का पूर्ण परिणमन हो, वह मुमुक्षु का मनोरथ है। शुद्धोपयोग द्वारा उस मनोरथ की सिद्धि होती है।

इष्ट सुख की प्राप्ति में विघ्न करनेवाली मोहदृष्टि थी; आत्मा, शुद्धोपयोग धर्मरूप से परिणमित हुआ, वहाँ उस विघ्न का नाश हुआ और इष्ट की प्राप्ति हुई; इसलिए इष्ट के स्थानरूप शुद्धोपयोग सर्वथा प्रशंसनीय है।

वह शुद्धोपयोग कब होता है ? आत्मा का जैसा ज्ञानानन्दस्वभाव है, वैसा जानकर स्वसंवेदन में ले, (अर्थात ज्ञाता-ज्ञेय की एकरूपता हो), तब शुद्धोपयोग होता है। आत्मा का स्वभाव समझने के लिये आचार्यदेव ने सिद्ध भगवान का उत्कृष्ट उदाहरण दिया है। (प्रवचनसार गाथा 68)

ज्यों आभ में स्वयंमेव भास्कर उष्ण-देव-प्रकाश है;
त्यों सिद्ध भी स्वयंमेव लोक में ज्ञानसुख और देव है॥

जिस प्रकार सिद्ध भगवन्त किसी के अवलम्बन बिना स्वयमेव पूर्ण अतीन्द्रियज्ञान-आनन्दरूप से परिणमन करनेवाले दिव्य सामर्थ्यवाले देव हैं; उसी प्रकार समस्त आत्माओं का स्वभाव भी ऐसा ही है। अहा! ऐसा निरालम्बी ज्ञान और सुखस्वभावरूप मैं हूँ—ऐसा लक्ष्य में लेते ही जीव का उपयोग, अतीन्द्रिय होकर

www.vitragvani.com

उसकी पर्याय में ज्ञान और आनन्द का पुष्प खिल जाता है, उसे कोई अपूर्व... पूर्व में कभी नहीं अनुभव की हुई चैतन्य शान्ति वेदन में आती है-मुझमें से ही यह शान्ति आयी है, मैं ऐसी शान्तिरूप हुआ, मेरा आत्मा ही ऐसी पूर्ण शान्तिरूप है; इस प्रकार आनन्द का अगाध समुद्र उसे प्रतीति में-ज्ञान में-अनुभूति में आ जाता है; अपना परम इष्ट सुख उसे प्राप्त होता है और अनिष्ट ऐसा दुःख दूर होता है।

—बस, यह है महावीर प्रभु का इष्ट उपदेश! महावीर भगवान द्वारा कथित वस्तुस्वरूप जो समझता है, उसे ऐसे इष्ट की प्राप्ति होती ही है।

जिस प्रकार सूर्य को आकाश में रहने के लिये किसी स्तम्भ के सहारे की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसे उष्णता के लिये अथवा प्रकाश के लिये कोई कोयला या तेल इत्यादि ईंधन की आवश्यकता नहीं पड़ती; अपने वैसे स्वभाव से ही वह आकाश में निरालम्बी उष्णता और प्रकाशवान है। उसी प्रकार सुख और ज्ञान जिसका स्वभाव है, ऐसी दिव्यशक्तिवाले आत्मा को अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्दरूप परिणमित होने के लिये किसी राग, पुण्य या इन्द्रियविषयों की पराधीनता नहीं है; उन सबकी अपेक्षा बिना स्वभाव से ही स्वयं स्वयमेव दिव्यज्ञान-सुख की शक्तिवाला देव है; सुख और ज्ञान, आत्मा का स्वभाव ही है; उस स्वभाव की प्राप्ति वह इष्ट है। धर्मी को अपना ऐसा ज्ञान आनन्दमय सहजस्वभाव ही इष्ट-प्रिय में प्रिय है। जिसे चैतन्यपद इष्ट लगा, उसे जगत में दूसरा कुछ इष्ट नहीं लगता।

✧ ✧ ✧

www.vitragvani.com

— अहो! मेरा अतीन्द्रिय स्वभाव ही मुझे अनुकूल और इष्ट है। उसके अवलम्बन से ही मुझे सुख है।

— मेरे ज्ञान-सुख के लिये मुझे इन्द्रियों इत्यादि दूसरे का अवलम्बन लेना पड़े तो वह पराधीन होने से मुझे प्रतिकूल है, वह इष्ट नहीं परन्तु अनिष्ट है, दु:खरूप है।

अहो, प्रिय वीरनाथ! वीतराग उपदेश द्वारा ऐसा सुन्दर हमारा इष्ट स्वभाव दर्शाकर आपने जो अचिन्त्य उपकार किया है, उसे स्मरण करते हुए भी हमारा हृदय आपके प्रति अर्पित हो जाता है।

अहो, सर्वज्ञ अरिहन्तों ने प्रगट किया हुआ आत्मा का रागरहित स्वाधीन अतीन्द्रिय महान सुख, वह किसे नहीं रुचेगा? ऐसा सुख कौन मुमुक्षु आनन्द से सम्मत नहीं करेगा? सर्वज्ञ का ऐसा इन्द्रियातीत सुख, वह आत्मा का स्वभाव ही है - ऐसा जानते हुए मुमुक्षु भव्य आत्मा प्रसन्नता से उसका स्वीकार करता है, इसलिए इन्द्रिय विषयों में से (और उसके कारणरूप पुण्य तथा शुभराग में से) उसे सुखबुद्धि छूट जाती है—ऐसे सुख को श्रद्धा में लेने से स्वभाव के आनन्द के वेदनसहित सम्यग्दर्शन होता है।

अहो, वीरनाथ परम सर्वज्ञदेव! ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान-सुखरूप से आप परिणमित हुए हो और आपके ऐसे परम इष्ट आत्मा को पहिचानकर, उसका स्वीकार करने से हमारा पूर्ण ज्ञानानन्द से भरपूर आत्मस्वभाव हमें प्रतीति में आ जाता है, मोक्षसुख का नमूना स्वाद में आ जाता है... कि जो हमें परम इष्ट है।

इस प्रकार इष्ट प्राप्ति के महा आनन्दपूर्वक हम आपको नमस्कार करके आपके मङ्गल मार्ग में चल रहे हैं।

जय महावीर!

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन की आराधना का उपदेश

श्री आचार्यदेव ने दर्शनप्राभृत में सम्यग्दर्शन की परम महिमा समझाकर उसकी आराधना का उपदेश दिया है और ऐसी आराधना करनेवाले को आराधक जीवों के प्रति कितना विनय-बहुमान होता है, यह भी बहुत सरस समझाया है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, शान्तरस में झूलते सन्त, जैनशासन के स्तम्भ, जिन्होंने इस पंचम काल में विदेहक्षेत्र के साक्षात् तीर्थङ्कर सीमन्धर परमात्मा का साक्षात्कार हुआ, उन्होंने इस अष्टप्राभृत शास्त्र की रचना की है। इसमें पहले दर्शनप्राभृत में सम्यग्दर्शन की प्रधानता का सरस वर्णन किया है।

सम्यग्दर्शन के बिना जीव अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अरे! बाह्य भावों से संसार में परिभ्रमण करते-करते तीर्थंकर का आत्मा भी थका... इसलिए आया अन्तर में! अहा! तीर्थंकर जिस भवभ्रमण से डरकर अन्तर में आये और सम्यग्दर्शन करके भवभ्रमण से छूटे, उस संसार दु:ख से, हे जीव! यदि तुझे भय हो और तू उससे छूटना चाहता हो तो आत्मा को पहचान कर सम्यग्दर्शन कर। दूसरे चाहे जितने उपाय जीव करे परन्तु सम्यग्दर्शन बिना भवभ्रमण नहीं मिटता।

दर्शनप्राभृत की पहली गाथा में मङ्गलाचरण करके आचार्यदेव ने श्री जिनवरवृषभ को तथा वर्धमान तीर्थङ्कर को नमस्कार किया है... और दर्शन का मार्ग कहने की प्रतिज्ञा की है। दर्शन कहने से (आशय है) सम्यग्दर्शन; वह धर्म का मूल है अथवा दर्शन

www.vitragvani.com

कहने पर जिनमार्ग; उस जिनमार्ग में सर्वज्ञदेव कैसे होते हैं? मुनिदशा कैसी होती है? सूत्र कैसे होते हैं? यह सब आचार्यदेव ने समझाया है।

जिनमार्ग में रत्नत्रयरूप भावशुद्धिसहित दिगम्बर जिनमुद्रा होती है – ऐसी मुनिदशा है। उससे विरुद्ध दूसरी किसी मुद्रा को जिनमार्ग में मुनिदशारूप से सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता। रत्नत्रयमार्गरूप से परिणमित आत्मा वह स्वयं 'मार्ग' है, वह स्वयं जिनदर्शन है।

❖ मोह, आत्मा का शत्रु है; उसे सम्यक्त्वादि द्वारा जो जीतता है, वह जिन है।

❖ अव्रती सम्यग्दृष्टि ने भी सम्यग्दर्शन द्वारा मिथ्यात्वादि को जीता है, इसलिए वे भी जिन हैं।

❖ ऐसे सम्यग्दृष्टि जिनों में श्रेष्ठ श्री गणधरदेव इत्यादि मुनि हैं; इसलिए वे 'जिनवर' हैं और

❖ ऐसे जिनवर-मुनिवरों में भी प्रधान श्री तीर्थङ्करदेव हैं, वे 'जिनवरवृषभ' है। इस प्रकार जिनवरवृषभ विशेषण समस्त तीर्थङ्करों को लागू पड़ता है।

—ऐसे जिनवरवृषभ तीर्थङ्कर अनन्त हुए... भरतक्षेत्र की इस चौबीसी में पहले ऋषभ तीर्थङ्कर हुए और अन्तिम वर्धमान तीर्थङ्कर हुए... इस प्रकार पहले-अन्तिम और बीच के समस्त तीर्थङ्करों को नमस्कार करके, उनके द्वारा कथित जो मार्ग, उसे आचार्यदेव ने प्रसिद्ध किया है, उसका ही नाम दर्शन है।

अहा! अच्छे काल में तो कितने ही मुनि इस भरतक्षेत्र में

www.vitragvani.com

विचरते थे। अभी तो मुनि के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। मुनिदशा कैसी अद्‌भुत है, उसे पहिचाननेवाले भी विरले हैं।

सर्वज्ञ भगवान ने गणधरादि शिष्यजनों को मोक्ष के कारणरूप जिस धर्म का उपदेश दिया है, उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। धर्म की व्याख्या चार प्रकार से है—

(1) वस्तुस्वभावरूप धर्म, (2) उत्तम क्षमादि दशविध धर्म, (3) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म और (4) जीवरक्षारूप धर्म (अहिंसारूप धर्म)।

—ऐसे अनेक प्रकार से धर्म की प्ररूपणा है, उन सबमें सम्यग्दर्शन की प्रधानता है, सम्यग्दर्शनपूर्वक ही वह धर्म होता है। सम्यग्दर्शन बिना इन चार में से एक भी प्रकार नहीं होता। जहाँ चार में से एक प्रकार कहा हो, वहाँ बाकी के तीन भी उसमें ही गर्भित होते हैं। इसलिए निश्चय से साधने पर उन चारों में एक ही प्रकार है। उसका विवेचन :—

(1) वस्तुस्वभावरूप धर्म—जीव वस्तु ज्ञान-दर्शनमय चेतनास्वरूप है, वह चेतना शुद्धतारूप से परिणमे, वह उसका स्वभाव है। उस शुद्धचेतनारूप धर्म में क्रोधादि के अभावरूप उत्तम क्षमादि धर्म आ जाते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म भी उसमें ही आ जाता है। संक्लेशपरिणाम के अभाव से वीतरागभावरूप जीवरक्षा भी उसमें आ गयी। इस प्रकार निश्चय से भिन्न-भिन्न चार प्रकार के धर्म नहीं; एक ही प्रकार है। मोह-क्षोभरहित शुद्ध चेतनापरिणाम, वही जिनेश्वरदेव से कथित धर्म है।

(२) उत्तमक्षमादिरूप दस धर्म—आत्मा, क्रोधादि

www.vitragvani.com

कषायरूप न हो और अपने अकषायस्वभाव में स्थित रहे-ऐसे उत्तम क्षमारूप धर्म में शुद्ध चेतना आ गयी; सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्र भी आ गये और संक्लेशपरिणाम के अभावरूप जीवरक्षा भी आ गयी।

(3) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म—इस निर्मल -परिणति में भी शुद्ध चेतना इत्यादि तीनों प्रकार समाहित हो जाते हैं क्योंकि सम्यग्दर्शनादि तीनों रागरहित हैं।

(4) जीवरक्षारूप धर्म—क्रोधादि संक्लेशपरिणाम द्वारा अपने या पर के आत्मा को नुकसान-दु:ख-क्लेश न हो और कषायरहित निर्मलपरिणाम रहे, इसका नाम जीवरक्षा है। इसमें बाकी के तीनों प्रकार आ जाते हैं। परमार्थ जीवरक्षा में अपने जीव की चेतना को मोहभावों से घात नहीं करना, वह भी आ जाता है क्योंकि मोहभाव, वह जीव की हिंसा है।

इस प्रकार धर्म की शुरुआत के अनेक प्रकार होने पर भी, निश्चय से साधा जाये तो धर्म का एक ही प्रकार है और वह धर्म, शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है।

व्यवहारनय भेद से तथा अन्य के संयोग से कथन करता है, इसलिए उसके अनेक भेद हैं : इसलिए व्यवहार से धर्म का वर्णन भी अनेक प्रकार से किया है। किसी समय प्रयोजनवश एकदेश को सर्वदेश कहनेरूप व्यवहार है तथा किसी समय अन्य का संयोग देखकर एक वस्तु में अन्य वस्तु का आरोपण करनेरूप व्यवहार है।

जैसे कि, जीव के निर्विकार स्वभावरूप जो शुद्ध चेतनापरिणाम

www.vitragvani.com

है, वह निश्चयधर्म है और उसके साथ वर्तते मन्दकषायरूप शुभपरिणाम या देहादि की बाह्य क्रिया में भी धर्म का आरोप करना, वह व्यवहार है। वस्तुत: तो वह धर्म नहीं, परन्तु वहाँ निश्चयधर्म प्रगट हुआ है, उसके उपचार से उसके साथ के शुभराग को या देह की क्रिया को भी धर्म कहा जाता है-ऐसा व्यवहार है। इसी प्रकार रत्नत्रय इत्यादि में भी निश्चय-व्यवहार समझना और उसमें पृथक्करण करके जो निश्चयधर्म है, वही सत्यधर्म है—ऐसा जानना और इसके अतिरिक्त दूसरे को धर्म कहना, वह उपचारमात्र है; सत्य नहीं-ऐसा जानकर उसका आश्रय छोड़ना।

पहले जिसे धर्म के सच्चे स्वरूप की खबर भी न हो, वह उसका आचरण तो कहाँ से करेगा? इसलिए श्रद्धा, वह धर्म का मूल है। जैसे मूल के बिना वृक्ष को डालियाँ, पत्तियाँ कहाँ से होंगे? उसी प्रकार दर्शन अर्थात् श्रद्धा-उसके बिना जीव को सम्यग्ज्ञान -चारित्र या क्षमा इत्यादि कोई धर्म सच्चा नहीं होता। इस प्रकार 'दर्शन' जिसका मूल है-ऐसा धर्म, भगवान जिनवर ने गणधर आदि शिष्यों को उपदेशा है-ऐसा धर्म सुनकर सत्पुरुष अपने हित के लिये आदरपूर्वक उसकी उपासना करो और उससे विरुद्ध मार्ग को छोड़ो।

—धर्म का मूल सम्यग्दर्शन क्या है?—

सम्यग्दर्शन, वह जीव का अन्तरङ्गभाव है। **उपाधिरहित शुद्धजीव को साक्षात् अनुभव में लेकर उसमें आत्मबुद्धिरूप प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है, वह निश्चय से एक ही प्रकार का है।**

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व, वह आत्माभिमुख परिणाम है। शुद्धनय द्वारा हुई आत्मा की अनुभूति, वह सम्यग्दर्शन का मुख्य चिह्न है। ऐसी शुद्धात्मा की अनुभूति, सम्यग्दृष्टि को ही होती है; मिथ्यादृष्टि को नहीं होती। सम्यग्दर्शन होते समय प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को शुद्धनय द्वारा आत्मा का निर्विकल्प स्वसंवेदन होता है, उसमें अपूर्व शान्ति के वेदनसहित अपना आत्मा सच्चे स्वरूप से ज्ञात होता है; पश्चात् उसकी चेतनापरिणति, विकल्प के समय भी उससे भिन्न ही वर्तती है, वह अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं है।

सम्यग्दर्शन के निमित्तों में अन्तरङ्ग तो मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का उपशमादि है और बाह्य निमित्तों में साक्षात् तीर्थङ्करदेव के दर्शन, ज्ञानी धर्मात्मा गुरुओं का सत्सङ्ग, श्री जिनेन्द्रदेव के कल्याणक इत्यादि महिमा का देखना, जातिस्मरण होना, तीव्र वेदना का अनुभव, देवों की ऋद्धि का दर्शन, धर्म का श्रवण इत्यादि अनेक हैं। ऐसे निमित्त के प्रसङ्ग के समय यदि अपने परिणाम को अन्तर में आत्मा के सन्मुख करे तो सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा में क्या होता है ?

सम्यग्दर्शन में आत्मा का जो आनन्दरस है, उसका स्वाद आता है; अनन्त गुण के स्वाद से गम्भीर ऐसी अपूर्व चैतन्य -शान्ति स्वसंवेदन में आ जाती है। अनुभूति में ज्ञान, इन्द्रियातीत अर्थात् अतीन्द्रिय होने से वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है; अनन्त काल में नहीं अनुभव किया हुआ, रागरहित अपूर्व आत्मिक आनन्द का वेदन उसमें होता है। आत्मा स्वयं अपने में शान्तरस के समुद्र में ऐसा स्थिर होता है कि जहाँ दु:ख का या आकुलता का नाम-

www.vitragvani.com

निशान नहीं रहता। ऐसे अनुभववाला जो सम्यग्दर्शन है, वह धर्म का मूल है। अहो! उसकी अपार महिमा है।

शुद्धात्मा की अनुभूति, वह सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है-इसमें ज्ञान की पर्याय को सम्यक्त्व का लक्षण कहा। उस अनुभूति को ही सम्यक्त्व कहना, वह व्यवहार है। व्यवहार क्यों? क्योंकि एक गुण की पर्याय का आरोप दूसरे गुण की पर्याय में किया; इसलिए वह व्यवहार है। सम्यग्दर्शन परिणाम को सीधे पहिचानना, वह निश्चय और अनुभूति के परिणाम से सम्यग्दर्शन परिणाम का अनुमान करना, वह व्यवहार है।

—ऐसी अनुभूति की परीक्षा, सर्वज्ञ के आगम से, प्रत्यक्षपूर्वक के अनुमान से तथा स्वानुभवप्रत्यक्ष से की जा सकती है; इन्द्रियज्ञान द्वारा उसे नहीं पहिचाना जा सकता क्योंकि वह अतीन्द्रिय भाव है। वहाँ स्वयं अपनी अनुभूति का निर्णय करना तो अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की प्रधानता से स्पष्ट हो जाता है और सामनेवाले की परीक्षा उस प्रकार के अनुभव का वर्णन आवे, वैसी वाणी इत्यादि से हो सकता है; धारावाही स्वरूप इसका कैसे चलता है, इससे धर्मी के धर्म का अनुमान हो जाता है। जिसे अपना अनुभव हुआ हो, वही दूसरे के अनुभव का वास्तविक अनुमान कर सकता है।

छद्मस्थ धर्मात्मा को स्वयं का निर्णय तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से होता है परन्तु सामनेवाले का प्रत्यक्ष नहीं होता। अनुमान से निर्णय हो कि इसे ऐसा अनुभव हुआ है; इस प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा स्वयं की और अनुमान द्वारा दूसरे की परीक्षा करके निर्णय हो सकता है। सम्यग्दर्शन होने का निश्चय न हो सके—ऐसा एकान्त कहना, वह मिथ्यात्व है।

www.vitragvani.com

अहा! सम्यग्दर्शन होने पर सम्पूर्ण आत्मा पलट गया। मात्र दु:ख में से छूटकर अतीन्द्रियसुख हुआ; अशान्ति और आकुलता मिटकर परम शान्ति का वेदन हुआ; संसारदशा की ओर का परिणमन छूटकर मोक्षपरिणमन शुरु हुआ; अज्ञान मिटकर अतीन्द्रिय -ज्ञान प्रगट हुआ-ऐसे तो अनन्त गुणों का निर्मल कार्य अनुभूति में एक साथ समाहित होता है।

अहो! जो अपूर्व अनुभव अनन्त काल में नहीं हुआ था, उसके होने पर आत्मा की सम्पूर्ण दशा पलट गयी; मानो सम्पूर्ण आत्मा ही नया हो गया! अनन्त संसार को छेदकर मोक्ष के पंथ में लगा। **सिद्धपद का साधक हुआ और उसकी स्वयं को खबर न पड़े-ऐसा कहना तो सम्यक्त्व के मार्ग को लोप करने जैसा है। अरे! यदि स्वयं को पता न पड़े तो उसने साधा क्या?** जिससे अल्प काल में मुक्ति होगी—ऐसी प्रतीति हो और जिसके आत्मा में से कर्म जाऊँ... जाऊँ... हो रहे हों, जिसकी परिणति का परिणमन, मुक्तस्वभाव के प्रति ढल रहा हो, प्रतिक्षण जिसे साधकदशा बढ़ती जाती हो-उसे अपनी दशा की प्रतीति न हो-ऐसा कैसे बने? स्वसंवेदन में कोई अगाध ताकत है-उसकी कल्पना भी अज्ञानी को नहीं हो सकती।

चिदानन्दतत्त्व का भान होने पर, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को अपने स्वरूपरूप धर्म की परम प्रीति हुई-उसमें ही तन्मयता हुई और अन्य सब में आत्मबुद्धि छूट गयी, अर्थात् उसे सर्व परद्रव्यों के प्रति सहज वैराग्य हुआ। परमसुखरूप रत्नत्रय के प्रति उत्साह का वेग हुआ, वह संवेग; और दु:खमय परभावों के प्रति वैराग्य हुआ, वह निर्वेद; सम्यग्दृष्टि को ऐसे संवेग-निर्वेद होते हैं।

www.vitragvani.com

धर्मी को धर्म का ऐसा प्रेम होता है कि अहो! जिनके प्रताप से ऐसा अपूर्व सम्यक्त्वसुख प्राप्त हुआ, उन देव-गुरु के तो हम दास हैं। उनका उपकार कभी नहीं भुलाया जा सकता। धर्म की अत्यन्त प्रीति होने से, उसके हेतुरूप देव-गुरु-शास्त्र, चतुर्विध संघ इत्यादि की सेवा के कार्य में भी वह अपनी शक्ति छुपाये बिना उत्साह से, भक्ति से दासरूप प्रवर्तता है।

निःशङ्कता, वात्सल्य, प्रभावना इत्यादि आठ अङ्ग जैसे सम्यग्दृष्टि को होते हैं, वैसे मिथ्यादृष्टि को नहीं होते। अपरीक्षक को ऊपरी दृष्टि में समानता लगती है, परन्तु परीक्षा करे तो धर्मी के अन्तर की गहराई का पता पड़े और सच्ची परीक्षा स्वयं के स्वानुभव की प्रधानता से होती है। सर्वज्ञ के मार्गानुसार अपने को आत्मानुभव हो, वह छुपा नहीं रहता। उसका तो समस्त जीवन ही अलग प्रकार का हो जाता है।

अहा! जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, उस जीव को शास्त्र का ज्ञान थोड़ा हो या त्याग अल्प हो, तथापि वह मार्ग का आराधक है। वह प्रतिक्षण कर्म की निर्जरा करता है; सर्व शास्त्र के पठन का मूल सार उसने पढ़ लिया है और जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है-उसकी महिमा का भी पता नहीं, वह भले चाहे जितने शास्त्र पढ़े या चाहे जैसा त्यागी हो, तथापि प्रतिक्षण वह कर्म बाँधता है; उसे धर्म की आराधना नहीं होती। शास्त्र-पठन या बाह्य त्याग से स्वयं की अधिकता मानकर, आत्मा के अनुभवी-ज्ञानी-धर्मात्मा को जो अपने से तुच्छ समझता है, वह सम्यक्त्व की महाविराधना करता है। मुमुक्षु को तो ऐसा होता है कि अरे! धर्मात्मा

www.vitragvani.com

के अतीन्द्रिय अनुभव के समक्ष मेरे इस पठन की या त्याग की क्या कीमत है ? जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि गुण हैं —ऐसे गुणवन्त धर्मात्मा ही सदा वन्दनीय हैं। देखो, यह भगवान का मार्ग! इसका मूल सम्यग्दर्शन है।

अहो! धर्मात्मा का स्वभाव तो अपने आत्मा को साधने का है; उसे जगत की कोई स्पृहा नहीं है, वह तो स्वयं अपने स्वभावरूप धर्म को साधता है परन्तु जो मार्ग से भ्रष्ट हैं और पापाचारी हैं—ऐसे जीव, धर्मात्मा के ऊपर भी दोषारोपण करके स्वयं को उनसे अधिक समझते हैं। अरे! अपना अभिमान पोषण करने के लिये दूसरे धर्मात्माओं पर मिथ्या लांछन लगाते हैं, यह तो महापाप है। ऐसे जीवों की सङ्गति करनेयोग्य नहीं है।

अहा! सम्यग्दर्शन की कीमत क्या ?—उसकी महिमा की जगत को खबर नहीं है। चारित्रदशा तो दूर, परन्तु सच्ची श्रद्धा भी अभी तो दुर्लभ हो गयी है। अभी भले चारित्र-पालन न कर सके, परन्तु उसकी पहिचानसहित श्रद्धा करे तो भी अल्प काल में भव से छुटकारा आयेगा। श्रद्धा ही विपरीत करेगा, तब तो मार्ग से भ्रष्ट होकर संसार में ही भटकेगा। इसलिए हे भाई! इस कलिकाल में चारित्र के लिये तेरी विशेष शक्ति न हो, तो उसकी भावना रखकर भी सच्चे मार्ग की श्रद्धा तो तू अवश्य करना। श्रद्धामात्र से भी तेरा आराधकपना टिका रहेगा और अल्प काल में भव से छुटकारा हो जायेगा, किन्तु यदि सर्वज्ञ के मार्ग का विरोध करेगा तो अनन्त भव में भटकते हुए कहीं तेरा अन्त नहीं आयेगा।

अरे जीव! सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित वीतरागी मार्ग का

www.vitragvani.com

साक्षात् आचरण तुझसे न हो सके तो कम से कम इतना तो अवश्य करना कि यथार्थ मार्ग जैसा है, वैसी उसकी श्रद्धा रखना। मार्ग को विपरीत मत मानना-ऐसा कहकर आचार्यदेव ने सम्यक्श्रद्धा पर वजन दिया है। सम्यक्श्रद्धावाला जीव कदाचित् चाण्डाल देह में हो या पशु देह में हो, तथापि वह भगवान के मार्ग में है और सम्यक्श्रद्धारहित जीव, स्वर्ग में देव हो या बड़ा राजा हो या राजपाट छोड़कर व्रतादि पालन करता हो, तथापि राग को धर्म माननेवाला वह जीव, वीतराग भगवान के मार्ग से बाहर है। इसलिए हे जीव! तेरा हित चाहता हो तो तू वीतरागी जिनमार्ग को पहिचानकर उसकी श्रद्धा तो यथावत् रखना; श्रद्धा में शिथिलता मत करना। इस प्रकार आचार्य भगवान ने धर्म के मूलरूप सम्यग्दर्शन की आराधना का विशिष्ट उपदेश दिया है।

न धर्मो धार्मिकैः बिना अर्थात् धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं होता—यह समन्तभद्रस्वामी का सूत्र है। जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे धर्मात्मा के प्रति प्रेम होता ही है। धर्मात्मा का अनादर करनेवाला धर्म का भी अनादर करता है। कोई कहे कि धर्म का प्रेम है, परन्तु धर्मात्मा के प्रति प्रेम-उत्साह-आदर नहीं आता,—तो उस जीव को वास्तव में धर्म का पता नहीं है; धर्म और धर्मी को उसने अत्यन्त भिन्न माना है। इसलिए वह गुण-गुणी को सर्वथा भिन्न माननेवाले एकान्ती-मिथ्यादृष्टि जैसा है। अरे! रत्नत्रय के आराधक मुनिराज भी दूसरे मुनिराज को देखने पर प्रमोद से उनका सत्कार करते हैं... अहो! ये भी रत्नत्रय के आराधक है-ऐसे रत्नत्रयधारक के प्रति प्रमोद आता है। उसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि हो, उसे दूसरे सम्यग्दृष्टि को देखने पर अन्तर में महाप्रमोद आता है कि वाह! ये

www.vitragvani.com

भी स्वानुभूतिवाले मोक्ष के साधक मेरे साधर्मी हैं, इन्होंने भी अपूर्व कार्य किया है! यदि धर्मात्मा को देखकर प्रमोद न आवे और ईर्ष्याभाव हो तो समझना कि उस जीव को धर्म का प्रेम है ही नहीं।

धर्मदृष्टि में जो धर्म में बड़ा हो, वही बड़ा और पूज्य है। लौकिक दृष्टि में पुण्य से बड़ा, वह बड़ा कहलाता है परन्तु मोक्षमार्ग में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप गुण जिसमें हों, वही पूज्य-वन्दनीय है। सम्यग्दर्शनरहित भले चाहे जितना बड़ा हो, तथापि धर्म में उसकी बड़ेपन की कोई कीमत नहीं है। बाहर के पुण्य के ठाठ, वे कहीं जीव को मोक्ष का कारण नहीं होते; मोक्ष का कारण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही होते हैं; इसलिए उन गुण के धारक सन्त ही वन्दनयोग्य है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! सिद्धि को साधनेवाले ऐसे रत्नत्रयगुणों के धारक शीलवन्त श्रमणों को मैं सम्यक्त्वसहित शुद्धभाव से वन्दना करता हूँ, अर्थात् मेरे आत्मा को भी ऐसे रत्नत्रय के शुद्धभावरूप परिणमित कराकर मैं मुक्ति को साधता हूँ। वाह! देखो तो सही!! रत्नत्रय के प्रति आचार्यदेव का प्रमोद! रत्नत्रय-संयुक्त मुनिराज को देखने पर, धर्मी को प्रमोद आता है कि वाह! धन्य तुम्हारा जीवन! तुमने जन्मकर अवतार सफल किया!

जिनशासन में सम्यग्दर्शनादि गुणों द्वारा महानता है। बाह्य वैभव से नहीं। तीर्थङ्करों को भी चँवर-छत्र इत्यादि जो बाह्य विभूति हैं, वह कहीं वन्दनीय नहीं तथा उस विभूति के कारण कोई तीर्थङ्कर वन्दनीय है-ऐसा भी नहीं; भगवान भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप गुणों के वैभव द्वारा ही वन्दनीय है। तथा ऐसी शङ्का भी

www.vitragvani.com

नहीं करना कि इतना अधिक बाह्य वैभव होने पर भी, भगवान वन्दनीय कैसे ? भाई ! यह तो इन्द्र, महिमा द्वारा उसकी रचना करते हैं और भगवान के पुण्य का वैसा ठाठ है परन्तु उस विभूति का संयोग होने पर भी, भगवान को कहीं उसके प्रति मोह या राग नहीं है, इसलिए उस विभूति के कारण भगवान की सर्वज्ञता को या वीतरागता इत्यादि गुणों को कोई बाधा नहीं आती; इसलिए अनन्त चतुष्टय इत्यादि गुणों के धारक तीर्थङ्कर भगवन्त वन्दनीय हैं।

ऐसे पूज्य तीर्थङ्कर भगवन्तों ने कैसा उपदेश दिया ? कि जिसके द्वारा कर्म का क्षय हो—ऐसे शुद्धोपयोग का उपदेश भगवान ने दिया है परन्तु राग के पोषण का उपदेश भगवान ने नहीं दिया है। जो राग से लाभ मानवे, वह उपदेश भगवान का नहीं है। भगवान के शास्त्र में तो जिससे कर्म का क्षय होकर मोक्ष हो, उसका ही उपदेश है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तपरूप चतुर्विध आराधना, वह मोक्ष का कारण है। वे चारों वीतरागभावरूप हैं और जिनशासन में भगवान ने उसी का उपदेश दिया है। ऐसा मार्ग जो समझा, वही भगवान के उपदेश को समझा है। ऐसा उपदेश सुनकर, हे जीवों ! सर्व प्रथम तुम सम्यग्दर्शन को आराधो, क्योंकि मोक्षार्थी जीव को सार में सार ऐसा जो रत्नत्रय, उसका मूल सम्यग्दर्शन है; इसलिए जिनशासन में उसकी आराधना सर्व प्रथम करना चाहिए—ऐसा सन्तों का उपदेश है। ●

www.vitragvani.com

केवली भगवान की क्षायिकी क्रिया

सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाला ज्ञान भी उदय से भिन्न पड़कर क्षायिकभाव की ओर परिणमित होने लगा

अहो, सर्वज्ञ तीर्थङ्करदेव! आपकी दिव्यता वास्तव में आश्चर्यकारी है... कर्म का उदय भी आपको मोक्ष का कारण होता है, बन्ध का कारण नहीं होता। आपके केवलज्ञान के किसी अचिन्त्य प्रभाव के कारण, उदय की क्रियायें भी आपको तो मोक्ष का ही कार्य कर रही हैं, क्योंकि उदय के काल में आपको कर्म का बन्धन किञ्चित् भी नहीं होता, अपितु कर्म का क्षय ही होता जाता है; इसलिए वे उदय क्रियायें भी आपके लिये तो क्षायिकी क्रिया ही है।

– तो हे भगवान! आपके अचिन्त्य केवलज्ञान का स्वीकार करनेवाला हमारा सम्यग्ज्ञान, वह भी मोह का क्षय करते-करते मोक्ष की ओर जाये-इसमें क्या आश्चर्य है? प्रभो! मोक्ष के मार्ग में चढ़े हुए हमारे जैसे साधक ही आपकी क्रियाओं को क्षायिकी क्रियारूप से स्वीकार कर सकते हैं। हे सर्वज्ञदेव! उदय के समय भी आपको क्षायिकभावों से जिसने पहिचान लिया, उसका ज्ञान, उदयभावों से भिन्न पड़कर क्षायिकभाव की ओर गतिशील हुआ।

(– प्रवचनसार, गाथा 43)

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व महिमा

हे वत्स! तू परम भक्ति से सम्यक्त्व को भज

श्री सकलकीर्ति-श्रावकाचार के ग्यारहवें अध्याय में अष्टगुण -सहित और सर्व दोषरहित, ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व की परम महिमा बतलाकर, उसकी आराधना का उपदेश दिया है; उसमें 108 श्लोक हैं, उनका दोहन यहाँ दिया है।

❖ जो मूढ़जीव वीतराग जिनमार्ग का सेवन छोड़कर मिथ्यामार्ग के सेवन द्वारा आत्मकल्याण को चाहता है, वह जीवित रहने के लिये ज़हर खानेवाले जैसा मूर्ख है।

❖ बुधजन अल्प ज्ञान पाकर उसका मद नहीं करते; अरे! पूर्व के महान श्रुतधरों के समक्ष मेरा यह अल्प ज्ञान किस हिसाब में है?

❖ अरे! क्षणभर में नष्ट हो जानेवाले ऐसे इस शरीर बल का अभिमान क्या?

❖ विचित्र-अद्भुत सम्यग्दर्शन-कला के समक्ष लौकिक सुन्दर लेखनादि कला का अभिमान करना, वह भी अशुभ है।

❖ जैसे मलिन दर्पण में मुख दिखायी नहीं देता; उसी प्रकार मोह से मलिन मिथ्याश्रद्धा में आत्मा का सच्चा रूप दिखायी नहीं देता, मुक्ति का मुख उसमें दिखायी नहीं देता।

❖ जैसे निर्मल दर्पण में मनुष्य अपने रूप को अवलोकन करते हैं; इसी प्रकार सम्यक्त्वरूपी निर्मल दर्पण में धर्मी जीव, मुक्ति का मुख देखते हैं, अर्थात् अपना सच्चा रूप देखते हैं।

www.vitragvani.com

❖ सम्यग्दर्शनसहित जीव विशेष ज्ञान-व्रतादि बिना भी इन्द्र-तीर्थङ्कर इत्यादि विभूति को पाता है।

❖ ज्ञान-चारित्रादि का मूल भगवान ने सम्यग्दर्शन को कहा है, उसके बिना ज्ञान और चारित्र, वह अज्ञान और कुचारित्र है; इसलिए मोक्ष के लिए निरर्थक है।

❖ व्रत-चारित्ररहित तथा विशेष ज्ञानरहित अकेला सम्यक्त्व भी अच्छा है-प्रशंसनीय है, परन्तु मिथ्यात्वरूपी जहर से बिगड़े हुए व्रत-ज्ञानादि, वे अच्छे नहीं हैं।

❖ सम्यक्त्वरहित जीव वास्तव में पशु समान है; जन्मान्ध की तरह वह धर्म-अधर्म को नहीं जानता है।

❖ दु:खों से भरपूर नरक में भी सम्यक्त्वसहित जीव शोभता है; उससे रहित जीव, देवलोक में भी शोभता नहीं है, क्योंकि वह नरक का जीव तो सारभूत सम्यक्त्व के माहात्म्य के कारण वहाँ से निकलकर लोकालोक प्रकाशक तीर्थनाथ होगा और मिथ्यात्व के कारण भोग में तन्मय उस देव का जीव, आर्तध्यान से मरकर स्थावरयोनि में जायेगा।

❖ तीन काल और तीन लोक में सम्यक्त्व के समान धर्म दूसरा कोई नहीं; जगत में वह जीव को परमहितकर है।

❖ सम्यक्त्व के अतिरिक्त दूसरा जीव का कोई मित्र नहीं है, दूसरा कोई धर्म नहीं है, दूसरा कोई सार नहीं है, दूसरा कोई हित नहीं है, दूसरा कोई पिता-माता आदि स्वजन नहीं और दूसरा कोई सुख नहीं। मित्र-धर्म-सार-हित-स्वजन-सुख, यह सब सम्यक्त्व में समाहित है।

www.vitragvani.com

❖ सम्यक्त्व से अलंकृत देह भी देवों द्वारा पूज्य है परन्तु सम्यक्त्वरहित त्यागी भी पद-पद पर निन्दनीय है।

❖ एक बार सम्यक्त्व को अन्तर्मुहूर्तमात्र भी ग्रहण करके, कदाचित् जीव उसे छोड़ भी दे तो भी निश्चित् वह अल्प काल में (पुनः सम्यक्त्वादि ग्रहण करके) मुक्ति प्राप्त करेगा।

❖ जिस भव्य को सम्यक्त्व है, उसके हाथ में चिन्तामणि है, उसके घर में कल्पवृक्ष और कामधेनु है।

❖ इस लोक में निधान की तरह सम्यक्त्व, भव्य जीवों को सुखदाता है; वह सम्यक्त्व जिसने प्राप्त किया, उसका जन्म सफल है।

❖ जो जीव, हिंसा छोड़कर, वन में जाकर अकेला बसता है और सर्दी-गर्मी सहन करता है परन्तु यदि सम्यग्दर्शनरहित है तो वन के वृक्ष जैसा है।

❖ सम्यक्त्वरहित जीव, दान-पूजा-व्रतादिक जो किञ्चित् पुण्य करते हैं, वे सर्व विफल हैं... विरुद्ध फलवाले हैं।

❖ दृष्टिहीन जीव किञ्चित् दया-दानादि पुण्य करके उसके फल में इन्द्रियभोग पाकर वापस भव-भ्रमण में भटकता है।

❖ सम्यक्त्व के बल से जो कर्म सहज में नष्ट होते हैं, वे कर्म सम्यक्त्व के बिना घोर तप से भी नष्ट नहीं होते।

❖ सम्यक्त्वादि से विभूषित गृहस्थपना भी श्रेष्ठ है क्योंकि वह व्रत-दानादि से संयुक्त है और भावी निर्वाण का कारण है।

❖ मुनि के व्रतसहित, सर्वसङ्गरहित, देवों से पूज्य ऐसा निर्ग्रन्थ

www.vitragvani.com

जिनरूप भी सम्यग्दर्शन के बिना शोभा नहीं देता। (वह तो प्राणरहित सुन्दर शरीर जैसा है)।

❖ दर्शनरहित जीव कभी निर्वाण को प्राप्त नहीं करता। सम्यक्त्व से अलंकृत जीव कदाचित् चारित्रादि से च्युत हो गया हो, वह भी फिर से चारित्र पाकर मोक्ष पायेगा।

❖ जैसे नेत्रहीन जीव, रूप को नहीं जानता; वैसे सम्यक्त्व चक्षुरहित अन्ध जीव, देव-गुरु को या गुण-दोष को नहीं जानता।

❖ जैसे प्राणरहित शरीर को मृतक कहा जाता है; उसी प्रकार दृष्टिहीन जीव को चलता मृतक कहा जाता है।

❖ सम्यक्त्वरहित जीव भले मात्र नमस्कार मन्त्र को ही जानता हो, तथापि गौतम आदि भगवन्त उसे सम्यक्त्वी कहते हैं और सम्यक्त्वरहित जीव, ग्यारह अङ्ग को जानता हो, तथापि उसे अज्ञानी कहा है।

❖ अहो! यह सम्यग्दर्शन है, वह ज्ञान-चारित्र का बीज है, मुक्ति सुख का दातार है, उपमारहित अमूल्य है; उसे हे जीव! तू सुख के लिये ग्रहण कर।

❖ जिसने अपने सम्यक्त्व रत्न को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया, वह जीव जगत् में धन्य है-पूज्य है-वन्द्य है और उत्तम बुधजनों द्वारा प्रशंसनीय है।

❖ दृष्टि रत्नसहित वह जीव जहाँ-तहाँ अनेक महिमायुक्त और सर्व इन्द्रियसुखों के मध्य में रहने पर भी, धर्मसहित रहता है तथा कल्याण परम्परासहित तीन लोक को आश्चर्य करनेवाले धर्मचक्र द्वारा शोभित होता है; अनन्त महिमायुक्त, दर्शनीय और सुख की

www.vitragvani.com

खान ऐसी तीर्थङ्करप्रकृति को भी वह उत्तम धर्मात्मा प्राप्त करता है।

❖ अधिक क्या कहना? जगत में जितने सुख हैं, वे सब सर्वोत्कृष्टरूप से सम्यग्दृष्टि को प्राप्त होते हैं।

❖ एतत् समयसर्वस्वम् एतत् सिद्धान्तजीवितम्।
एतत् मोक्षगतेः बीजं सम्यक्त्वं विद्धि तत्त्वतः॥

विधिपूर्वक उपासित किया गया यह सम्यक्त्व, वह समय का सर्वस्व है-सर्व शास्त्रों का सार है, वह सिद्धान्त का जीवन है - प्राण है और वही मोक्षगति का बीज है।

सम्यक्त्व है वह सार है, है समय का सर्वस्व वह।
सिद्धान्त का जीवन वही और मोक्ष का है बीज वह।
विधि जानकर बहुमान से आराधना सम्यक्त्व को।
सर्व सौख्य ऐसे पाओगे आश्चर्य होगा जगत को॥

❖ शुद्ध सम्यक्त्व के आराधक धर्मात्मा को मोक्षसुख प्राप्त होता है, वहाँ स्वर्ग की क्या बात?

❖ निरतिचार सम्यक्त्व के धारक को तीन लोक में अलभ्य क्या है? जगत में उसे कोई अलभ्य नहीं है।

❖ सम्यग्दर्शन के प्रताप से मुनियों को ऐसा मोक्षसुख होता है कि जो स्वयंभू है; असारभूत ऐसे इन्द्रिय-विषयों से जो पार है, देहादि भार से जो रहित है, उपमारहित है, अत्यन्त सार है और संसार से पार है; रोग-जन्म-शङ्का-बाधारहित है।

❖ अहो! यह सम्यग्दर्शन सकल सुख का निधान है, स्वर्ग -मोक्ष का द्वार है। नरक गृह को बन्द करनेवाला किवाड़ है, कर्मरूपी हाथी को नाश करने के लिये सिंह समान है, दुरित वन

www.vitragvani.com

को छेदनेवाला कुठार है और समस्त सुख की खान है। समस्त प्रकार के सन्देहरहित ऐसे सम्यक्त्व को, हे भव्य! तू भज!

❖ अहो! यह सम्यग्दर्शन है, वह मोक्षफल देनेवाला सच्चा कल्पवृक्ष है। जिनवर-वचन की श्रद्धा उसका मूल है; तत्त्वश्रद्धा उसकी शाखा है। समस्त गुण की उज्ज्वलता रूप जल सिञ्चन द्वारा जो वर्धमान है, चारित्र जिसकी शाखायें हैं; सर्व समिति, वे उसके पत्र-पुष्प हैं और मोक्षसुखरूपी फल द्वारा जो फल-फूल रहा है-ऐसा सम्यग्दर्शन सर्वोत्तम कल्पवृक्ष है। अहो जीवों! उसका सेवन करो। (उसकी मधुर छाया लेनेवाला भी महाभाग्यवान है)।

❖ वे उत्तम पुरुष धन्य हैं, कृतकृत्य हैं, तीन लोक में पूज्य हैं, वे ही सार-असार का विचार करने में चतुर हैं, पाप-शत्रु का विध्वंस करनेवाले हैं और सर्व सुख को भोगकर मुक्ति महल में पधारते हैं-जो सारभूत सर्व गुणों का घर और अजोड़ ऐसे सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं।

(इति सम्यक्त्व महिमा)

www.vitragvani.com

आत्मसाधना के लिये उपयोगी बात

प्रश्न : हम शुद्धात्मा को विकल्प में तो लेते हैं, परन्तु उसका फल क्यों नहीं आता ?

उत्तर : कौन कहता है–विकल्प का फल नहीं आता ? विकल्प का फल पुण्य है और वह फल तो आता ही है, परन्तु विकल्प के फल में निर्विकल्प अनुभव चाहो तो वह कहाँ से आयेगा ? उससे तो उल्टे विकल्प में ही अटककर रहना होगा।

तथा दूसरी मूल बात यह है कि शुद्धात्मा वास्तव में विकल्प में आता ही नहीं; शुद्धात्मा तो स्वसन्मुख ज्ञान में ही आता है। विकल्प और ज्ञान का कार्य एक नहीं, किन्तु भिन्न है।

अनुभव तो ज्ञान के निर्णय का फल है; विकल्प का नहीं। ज्ञान को स्वभावसन्मुख करके जो निर्णय किया, उसका फल निर्विकल्प अनुभव है।

प्रश्न : आत्मा की धारणा करने के बाद कब तक राह देखना ?

उत्तर : जरा भी राह नहीं देखना। क्षणमात्र में अनुभव कर लेना। अकेली परसन्मुख धारणा, वह वास्तविक धारणा नहीं; आत्मा का सच्चा निर्णय और सच्ची धारणा का बल अल्प काल में आत्मा का अनुभव करायेगा ही। ●

www.vitragvani.com

सिद्धत्व के हेतुभूत भावना

भगवान श्री यतिवृषभआचार्यरचित त्रिलोकप्रज्ञप्ति नामक प्राचीन ग्रन्थ में **सिद्धलोकप्रज्ञप्ति** नामक अधिकार में सिद्धत्व के हेतुभूत भावना का आनन्दकारी वर्णन गाथा 18 से 65 तक 48 गाथा द्वारा किया है। सिद्धत्व के हेतुभूत यह उत्तम भावना पढ़कर गुरुदेव को बहुत प्रमोद हुआ था और प्रवचन में श्रोताजनों के समक्ष उसका वर्णन किया था, जिसे सुनकर सबको हर्षोल्लास हुआ था। अहा! सिद्धत्व के हेतुभूत भावना से किसे आनन्द नहीं होगा? इसलिए वह आनन्दकारी भावना यहाँ दी जाती है।

यह शास्त्रकर्ता श्री यतिवृषभाचार्य, धवला-जयधवला के टीकाकार से भी प्राचीन हैं और इस भावना अधिकार में आयी हुई बहुत सी गाथायें, भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के समयसार, प्रवचनसार इत्यादि शास्त्रों की गाथाओं से लगभग मिलती है-मानों कि उनके शास्त्रों का दोहन करके ही यह भावना अधिकार रचा गया हो! ऐसा ही लगता है। प्रोफेसर हीरालालजी जैन इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'इस अन्तिम अधिकार में वर्णित सिद्धों का वर्णन और आत्मचिन्तन का उपाय (शुद्धात्मभावना), वह जैन विचारधारा की प्राचीन सम्पत्ति है।' चलो, हम भी अपने आत्मा को सिद्धत्व के हेतुभूत इस भावना में जोड़े :—

18- जैसे चिरसञ्चित ईंधन को पवन से प्रज्वलित अग्नि शीघ्र ही जला देती है; उसी प्रकार बहुत कर्मरूपी ईंधन को शुद्धात्मा के ध्यानरूपी अग्नि क्षणमात्र में जला देती है।

19- जो जीव, दर्शनमोह और चारित्रमोह को नष्ट करके,

www.vitragvani.com

विषयों से विरक्त होता हुआ, मन को रोककर आत्मस्वभाव में स्थिर होता है, वह मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

20- जिसे राग-द्वेष-मोह तथा योगपरिकर्म नहीं, उसे शुभाशुभ को भस्म करनेवाली ध्यानमय अग्नि उत्पन्न होती है।

21- शुद्धस्वभाव से सहित साधु को दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण ध्यान है, वह निर्जरा का कारण होता है; अन्य द्रव्यों से संसक्त ध्यान, निर्जरा का कारण नहीं होता।

22- अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सर्व सङ्ग से रहित तथा अनन्य मन (अर्थात् एकाग्रचित्त) होकर जो अपने चैतन्यस्वभावी आत्मा को जानता-देखता है, वह जीव, आत्मिक चारित्र का आचरण करनेवाला है।

23- ज्ञान-दर्शन और चारित्र में भावना करनी चाहिए और वह (ज्ञान-दर्शन-चारित्र) तीनों आत्मस्वरूप है, इसलिए हे भव्य! तू आत्मा में भावना कर।

24- मैं निश्चय से सदा एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानात्मक और अरूपी हूँ; अन्य कोई परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

25- मोह मेरा किञ्चित् भी नहीं है; मैं एक ज्ञान-दर्शन -उपयोगरूप ही हूँ - ऐसा जानता हूँ। - ऐसी भावना से युक्त जीव, अष्ट दुष्ट कर्मों को नष्ट करता है।

26- मैं परपदार्थों का नहीं और परपदार्थ मेरे नहीं; मैं तो अकेला ज्ञानस्वरूप ही हूँ-इस प्रकार जो ध्यान में चिन्तवन करता है, वह आठ कर्मों से मुक्त होता है।

27- चित्त शान्त होने पर इन्द्रियाँ शान्त होती हैं और इन्द्रियाँ

www.vitragvani.com

शान्त होने पर आत्मस्वभाव में रति होती है और उससे वह जीव स्पष्टरूप से-निश्चितरूप से निर्वाण को पाता है।

28- मैं देह नहीं, मन नहीं, वाणी नहीं और उनका कारण भी मैं नहीं-इस प्रकार के जो भाव हैं, वे शाश्वत स्थान को प्राप्त करते हैं। (अर्थात् जो ऐसी भावना भाता है, वह मोक्ष को पाता है)।

29- देह की तरह मन और वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक परवस्तु है—ऐसा उपदेश किया गया है; और पुद्गलद्रव्य, वह भी परमाणु द्रव्यों का पिण्ड है।

30- मैं नहीं तो पुद्गलमय तथा नहीं मैंने उन पुद्गलों को पिण्डरूप किया, इसलिए मैं देह नहीं और उस देह का कर्ता नहीं।

31- इस प्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय, महाअर्थ, नित्य, निर्मल, और निरालम्ब शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिए।

32- मैं परपदार्थ का नहीं; वे परपदार्थ मेरे नहीं; ज्ञानमय अकेला हूँ-इस प्रकार जो ध्यान में ध्याता है, वह जीव, आत्मा को ध्याता है।

33- इस प्रकार जानकर जो विशुद्ध आत्मा उत्कृष्ट आत्मा को ध्याता है, वह अनुपम अपार अतीन्द्रिय (अनन्त चतुष्टयात्मक) सुख को पाता है।

देखो, यह सिद्धपद के हेतुभूत भावना चलती है।

इस भावना से मोक्षसुख प्राप्त होता है।

34- मैं परपदार्थों का नहीं और परपदार्थ मेरे नहीं। इस जगत में मेरा कोई भी नहीं-इस प्रकार जो भावना भाता है, वह सम्पूर्ण कल्याण को पाता है।

www.vitragvani.com

35- इस ऊर्ध्व-अधो और मध्यलोक में कोई भी परपदार्थ मेरा नहीं है। इस जगत में कोई भी मेरा नहीं है-ऐसी भावना से युक्त जीव, अक्षय सुख को पाता है।

36- जो जीव, मद-मन-माया से रहित तथा लोभ से रहित और निर्मलस्वभाव से युक्त होता है, वह अक्षय स्थान को पाता है।

37- देहादिक में जिसे परमाणुमात्र भी मूर्च्छा है, वह जीव भले सर्व आगम का धारी हो, तथापि स्वकीय-समय को वह नहीं जानता।

38- इसलिए मोक्ष के अभिलाषी जीवों को देह में जरा भी राग नहीं करना; देह से भिन्न इन्द्रियातीत आत्मा का ध्यान करना।

39- देह में स्थित, देह से किञ्चित न्यून, देह से रहित शुद्ध, देहाकार और इन्द्रियातीत आत्मा ध्यातव्य है।

40- जिसके ध्यान में ज्ञान द्वारा निजात्मा यदि भासित नहीं होता तो उसे ध्यान नहीं परन्तु प्रमाद अथवा मोह-मूर्च्छा ही है-ऐसा जानना।

41- मोम से रहित संचा के अन्दर के आकाश जैसे आकारवाले, रत्नत्रयादि गुणों से युक्त, अविनश्वर और जीवघन-देशरूप ऐसे निजात्मा का ध्यान करना चाहिए।

42- जो साधु नित्य उद्योगशील (उपयुक्त) होकर इस आत्मभावना का आचरण करता है, वह अल्प काल में ही सर्व दु:ख से मुक्त होता है।

43- कर्म-नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और मैं-आत्मा, कर्म नोकर्मरूप हूँ-इस प्रकार की बुद्धि से प्राणी घोर संसार में घूमता है।

www.vitragvani.com

44- जो मोहकर्म का क्षय करके तथा विषयों से विरक्त होकर और मन को रोककर स्वभाव में समावस्थित होता है, वह जीव, कर्मबन्धनरूप साँकल से छूट जाता है।

45- जो प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेशबन्ध से रहित आत्मा है, वही मैं हूँ—ऐसा चिन्तन करना चाहिए तथा उसी में स्थिर भाव करना चाहिए।

46- जो केवलज्ञानस्वभावी है, केवलदर्शनस्वभावी है, सुखमय है और केवलवीर्यस्वभावी है, वह मैं हूँ-ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करता है।

47- जो जीव सर्व सङ्ग से रहित होकर अपने आत्मा को आत्मा द्वारा ध्याता है, वह अल्प काल में सर्व दु:खों से छुटकारा पाता है।

48- जो भयानक संसाररूपी महासमुद्र में से निकलना चाहता है, वह इस प्रकार जानकर शुद्धात्मा का ध्यान करता है।

49- प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दन, गर्हण और बुद्धि-इन सबकी प्राप्ति निज आत्मभावना से होती है।

50- दर्शनमोह ग्रन्थि को नष्ट करके, यदि श्रमण, राग-द्वेष का क्षय करता हुआ, सुख-दु:ख में समभावी होता है तो अक्षयसुख को प्राप्त करता है।

51- देह और धन में यह 'मैं' और 'यह मेरे' ऐसे ममत्व को जो नहीं छोड़ता, वह मूर्ख-अज्ञानी जीव, दुष्ट अष्टकर्मों से बँधता है।

52- पुण्य से विभव, विभव से मद, मद से मतिमोह, मतिमोह से पाप होता है; इसलिए पुण्य को भी छोड़ना चाहिए।

www.vitragvani.com

53- जो परमार्थ से बाह्य है, वह जीव, संसारगमन के और मोक्ष के हेतु को नहीं जानता हुआ अज्ञान से पुण्य की इच्छा करता है।

54- पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं-ऐसा जो नहीं मानता, वह मोह से युक्त होता हुआ घोर तथा अपार संसार में भ्रमता है।

55- मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य उनका तीनों प्रकार से त्याग करके, योगियों को निश्चय से शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए।

56- जीव परिणामस्वभावरूप है, वह जब शुभ अथवा अशुभ परिणामरूप से परिणमता है, तब शुभ और अशुभ होता है और जब शुद्धपरिणामरूप परिणमता है, तब शुद्ध होता है।

57- धर्मरूप परिणमित आत्मा, यदि शुद्ध उपयोगयुक्त हो तो निर्वाणसुख को पाता है और यदि शुभोपयोग से युक्त हो तो स्वर्गसुख को पाता है।

58- अशुभोदय से आत्मा कुमनुष्य, तिर्यञ्च अथवा नारकी होकर सदा हजारों दु:खों से पीड़ित होता हुआ संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है।

59- शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध ऐसे अरिहन्त तथा सिद्धों को अतिशय, आत्मा से ही समुत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त, और विच्छेदरहित सुख होता है।

60- रागादि संग से मुक्त ऐसे मुनि, अनेक भवों में सञ्चित किये हुये कर्मरूपी ईंधनसमूह को शुक्लध्यान नामक ध्यान द्वारा शीघ्र भस्म करते हैं।

www.vitragvani.com

61- जब तक हृदय में आत्मस्वभावलब्धि प्रकाशवान नहीं होती, तब तक ही जीव, शुभ-अशुभजनक ऐसे सङ्कल्प-विकल्परूप कर्म को करता है।

62- बन्धों के स्वभाव को, आत्मा के स्वभाव को जानकर, जो बन्धों में अनुरक्त नहीं होता, वह जीव, कर्मों से छुटकारा करता है।

63- जब तक आत्मा और आस्रव, इन दोनों के विशेष-अन्तर को नहीं जानता, तब तक वह अज्ञानी जीव, विषयादि में प्रवर्तमान रहता है।

64- ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के पुद्गलद्रव्य को जानता होने पर भी, परद्रव्य-पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता, और उनरूप उत्पन्न नहीं होता।

65- जो विमूढ़मति आत्मा, परद्रव्य को शुभ अथवा अशुभ मानता है, वह मूढ़ अज्ञानी जीव, दुष्ट अष्ट कर्मों से बँधता है।

- इस प्रकार भावना समाप्त हुई।

सिद्धपद के हेतुभूत, ऐसी यह उत्तम शुद्धात्मभावना भाने से मुमुक्षु जीव सिद्धपद को पाता है।

णमो सिद्धाणं!

www.vitragvani.com

भाई-बहन की धर्मचर्चा

एक जैन सद्गृहस्थ के घर में सभी सदस्य उत्तम संस्कारी थे; इनमें आनन्दकुमार-भाई तथा धर्मवती-बहिन, वे दोनों बाहर की विकथा में या सिनेमा-रेडियो वगैरह में रस न लेकर के प्रतिदिन रात्रि के समय तत्त्वचर्चा करते थे, या महापुरुषों की धर्मकथा के द्वारा आनन्द प्राप्त करते थे। वे भाई-बहिन कैसी अच्छी चर्चा करते थे, उसका नमूना यहाँ दिया है। आप भी अपने भाई-बहिन के साथ में धर्मचर्चा करते ही होंगे! यदि न करते हो तो अब से जरूर करना। आज ही उसका मङ्गल प्रारम्भ कर दो; और फिर आपने कौन सी चर्चा की-वह हमें भी लिखना। —*'जय महावीर'*

धर्मवती बहिन कहती है—भैया! अनन्त काल के संसारभ्रमण में हमें ऐसा दुर्लभ मनुष्य अवतार मिला है; तो अब इस जीवन में हमें क्या करना चाहिए?

आनन्दकुमार भाई कहता है—बहिन! मनुष्य जीवन पाकर हमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करना चाहिए।

बहिन—भैया! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय की आराधना कैसे हो?

भाई—बहिन! इन रत्नत्रय के मुख्य आराधक तो मुनिराज है; वे चैतन्यस्वरूप में लीन होकर रत्नत्रय की आराधना करते हैं।

बहिन—भैया जी! आपने कहा कि रत्नत्रय के 'मुख्य' आराधक मुनिराज हैं, तो क्या गृहस्थों के भी रत्नत्रय की आराधना हो सकती है?

www.vitragvani.com

भाई—हाँ, बहिन! रत्नत्रय के एक अंश की आराधना गृहस्थ के भी हो सकती है।

बहिन—क्या हम जैसे छोटे बालक भी रत्नत्रय की आराधना कर सकते हैं?

भाई—हाँ, खुशी से कर सकते हैं, परन्तु ये रत्नत्रय का मूल बीज सम्यग्दर्शन है; अत: प्रथम उसकी आराधना करना चाहिए।

बहिन—अहा! सम्यग्दर्शन की तो अपार प्रशंसा सुनी है। भाई! उस सम्यग्दर्शन की आराधना किस प्रकार से होती है?

भाई—सुन, बहिन! आत्मा की पूरी लगन से, ज्ञानी-अनुभवी के पास से उसकी पक्की समझ करना चाहिए, और फिर अन्तर्मुख होकर उसका अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है।

बहिन—ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा का कैसा अनुभव होता है?

भाई—अहा! उसका क्या कहना? सिद्धभगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव उसमें होता है।

बहिन—भैया! मोक्षशास्त्र में कहा है कि 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' सो यह श्रद्धा व्यवहार है, या निश्चय?

भाई—यह निश्चय श्रद्धा है, क्योंकि वहाँ पर मोक्षमार्ग दिखाना है; और सत्य मोक्षमार्ग तो निश्चयरत्नत्रय ही है।

बहिन—तत्त्व कितने हैं?

भाई—तत्त्व नव हैं; और इन तत्त्वों की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है।

बहिन—उन तत्त्वों के नाम बताईये।

www.vitragvani.com

भाई—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।

बहिन—इन तत्त्वों में से उपादेय तत्त्व कौन-कौन है ?

भाई—नव तत्त्वों में से शुद्ध जीवतत्त्व उपादेय है, तथा संवर-निर्जरा आंशिक उपादेय है, मोक्षतत्त्व सर्वथा उपादेय है।

बहिन—शेष तत्त्व कौन-कौन रहें ?

भाई—अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव तथा बन्ध, ये पाँच तत्त्व शेष रहें, वे पाँचों तत्त्व हेय है।

बहिन—वाह ! आज सम्यग्दर्शन की तथा हेय-उपादेय तत्त्व की बहुत अच्छी चर्चा हुई; इसका गहरा विचार करके सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करना चाहिए।

भाई—हाँ बहिन ! सभी को यही करना का है; जीवन में तू यही प्रयत्न करना, इससे तेरा जीवन सफल व सुखरूप होगा।

www.vitragvani.com

स्वभाव-अवलम्बी ज्ञान की अगाध ताकत

मेरा आत्मा सर्वज्ञस्वभावी वस्तु है—ऐसा निर्णय करके, जिसने अन्तर्मुख ज्ञान में अपने आत्मा को स्वज्ञेय बनाया, उस साधक जीव की राग से भिन्न हुई ज्ञानपर्याय में कितना अगाध सामर्थ्य है! कितनी अपार शान्ति है! उसे जानने पर भी आत्मा में साधकभाव की धारा उल्लसित हो जाये!—ऐसा सुन्दर वर्णन आप इस लेख में पढ़ेंगे।

साधक की वर्तमान पर्याय में तीनों काल के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने की शक्ति है। धर्मी को जिस प्रकार अपनी वर्तमान-पर्याय की शक्ति का विश्वास है, उसी प्रकार भविष्य की पर्याय के सामर्थ्य का भी विश्वास है... इसलिए भविष्य के लिये मैं अभी से धारणा कर लूँ, इस प्रकार धारणा पर उसका भार नहीं रहता। भविष्य में मेरी जो पर्याय होगी, वह पर्याय उस समय के विकास के बल से भूत-भविष्य को जान ही लेगी; इसलिए भविष्य की पर्याय के लिये अभी धारणा कर लूँ या बाह्य का क्षयोपशम बढ़ा लूँ—ऐसा धर्मी का लक्ष्य नहीं है। उस-उस समय की भविष्य की पर्याय, अतीन्द्रियस्वभाव के अवलम्बन के द्वारा जानने का कार्य करेगी। अहा! आत्मा की अनुभूति में ज्ञान एकाग्र हुआ, वहाँ धर्मी को अन्य जानने की आकुलता नहीं होती। जहाँ सम्पूर्ण ज्ञायक-स्वभाव अनुभूति में साक्षात् वर्तता है, वहाँ थोड़े-थोड़े परज्ञेयों को जानने की आकुलता कौन करे? यह बात प्रवचनसार की 33 वीं गाथा में कही है—'विशेष आकाँक्षा के क्षोभ से बस होओ! स्वरूप-निश्चल ही रहते हैं।'

www.vitragvani.com

जो ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेकर कार्य करता है, उसकी महानता के समक्ष शास्त्र के अवलम्बनरूप धारणा की महत्ता नहीं रहती। जिसे अन्य ज्ञातृत्व की महत्ता भासित होती है, वह जीव निजस्वभाव को जानने की ओर का बल कहाँ से लायेगा? उसके तो बाह्य ज्ञातृत्व की महत्ता वर्तती है। वर्तमान ज्ञान अन्तरङ्ग ज्ञानस्वभाव में उतर जाये-उसका सच्चा मूल्य है। उस पर्याय में अनन्त चमत्कारिक शक्ति है... वह राग से सर्वथा भिन्न होकर चैतन्य के अनन्त गुणों की गुफा में प्रविष्ट हो गयी है। वह पर्याय अपनी वर्तमान अगाध शक्ति को जानती है, तथा भविष्य की उस-उस पर्याय में स्वभाव के अवलम्बन से जो अगाध शक्ति है, उसका भी विश्वास उसे वर्तमान में आ गया है। भले ही अमुक क्षेत्र में या अमुक समय में केवलज्ञानादि होंगे—ऐसा भिन्न करके वह न जाने परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से उसे प्रतीति हो गयी है कि जैसे वर्तमान में मेरी स्वसन्मुख पर्याय, राग से भिन्न रहकर अतीन्द्रिय-स्वभाव के आश्रय से महान आनन्दमय कार्य कर रही है, उसी प्रकार भविष्य में भी वह पर्याय अपने अतीन्द्रियस्वभाव का अवलम्बन लेकर अचिन्त्य-चमत्कारिक शक्ति से केवलज्ञानादि कार्य करेगी। ऐसे स्वभाव का अवलम्बन मुझे वर्त ही रहा है, तो फिर 'अधिक जानूँ'—ऐसी आकुलता का क्या काम है? सर्व को जानने के सामर्थ्यवाला जो सर्वज्ञस्वभाव, उसी का अवलम्बन लेकरी पर्याय ज्ञानरूप परिणमित हो रही है, वहाँ लोकालोक को जानने की आकुलता नहीं रहती; स्वसन्मुखी ज्ञान में परम धैर्य है, आनन्द की लहर है।

अनेक अङ्ग-पूर्व जान लूँ तो मुझे अधिक आनन्द हो—ऐसा

www.vitragvani.com

विशेष जानने पर ज्ञानी का वज़न नहीं है, परन्तु मेरा जो ज्ञानस्वभाव है, उसमें स्थिर होऊँ, उतनी मुझे शान्ति है। अरे! ज्ञान कहीं आकुलता करेगा?—नहीं; ज्ञान तो निर्विकल्प होकर अन्तर में स्थिर होता है।

अन्तर में स्वसंवेदनज्ञान विकसित हुआ, वहाँ स्वयं को उसका वेदन हुआ। दूसरे उसे जानें या न जानें—उसकी कहीं ज्ञानी को अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार सुगन्धमय फूल खिलता है, उसकी सुगन्ध दूसरे लें या न लें, उसकी अपेक्षा फूल को नहीं होती, वह तो अपने में ही सुगन्ध से भरा है; उसी प्रकार धर्मात्मा को अपने में आनन्दमय स्वसंवेदन हुआ है, वह कहीं दूसरों को दिखाने के लिये नहीं है; दूसरे जानें तो मुझे शान्ति हो-ऐसा धर्मी को नहीं है; वह तो अन्तर में अकेले-अकेले अपने एकत्व में आनन्दरूप परिणमित हो रहा है।

बौद्ध, आत्मा को सर्वथा क्षणिक (वर्तमान पर्याय जितना ही) माननेवाले क्षणिकवादी कहे जाते हैं। परन्तु वास्तव में तो द्रव्यस्वभाव की शक्ति को जाने बिना, उसकी एक पर्याय का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता; क्योंकि एक शुद्धपर्याय में भी इतनी शक्ति है कि वह अनादि-अनन्त द्रव्य को, उसके अनन्त गुणों को तथा तीनों काल की पर्याय को जान लेती है। अब एक पर्याय की इतनी शक्ति का स्वीकार करने जाये तो उसमें त्रिकाली द्रव्य-गुण-पर्याय का भी स्वीकार हो जाता है। इसके बिना शुद्धपर्याय की शक्ति का भी स्वीकार नहीं होता।

अरे! ज्ञानी की ज्ञानपर्याय में कितना सामर्थ्य है?—उसकी जगत को खबर नहीं है। पर्याय की अगाध शक्ति का निर्णय करने

www.vitragvani.com

जाये, वहाँ भी ज्ञान, राग से पृथक् होकर अन्तरस्वभाव में प्रवेश कर जाता है। पर्याय-पर्याय में ज्ञानी का ज्ञान, राग से भिन्न ही कार्य करता है।

अहा, तीनों काल को वर्तमान में जान ले—ऐसी ज्ञानपर्याय की शक्ति का जिसे विश्वास हो गया है, उसे बाह्य का क्षयोपशम बढ़ाने की आकुलता नहीं रहती; उसकी ज्ञानपर्याय, राग से पृथक् होकर अखण्ड ज्ञानस्वभाव के आश्रय से कार्य करती है और इसी प्रकार भविष्य में भी उस-उस समय की पर्याय में स्वभाव के आश्रय से तीनों काल को जानने की शक्ति प्रगट हो जाती है, उसका विश्वास स्वसन्मुख हुई वर्तमान पर्याय में आ जाता है।

त्रिकाली द्रव्य-गुण तथा तीनों काल की पर्यायें-उन सब ज्ञेयों को स्वीकार किये बिना, उन ज्ञेयों को जानने के सामर्थ्यवाली ज्ञानपर्याय का भी स्वीकार नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञान की एक शुद्धपर्याय का भी यदि वास्तव में स्वीकार करने जाये तो उस पर्याय के ज्ञेयरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों का भी स्वीकार हो जाता है। द्रव्य के अस्वीकारपूर्वक अनित्य पर्याय का भी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता।

अरे भाई! अपनी एक पर्याय की पूर्ण शक्ति का स्वीकार कर तो उसके अपार सामर्थ्य में तीन काल की समस्त पर्यायें और द्रव्य-गुण ज्ञेयरूप से समाये हुए हैं—उन्हें स्वीकार करनेवाला ज्ञान, राग से भिन्न होकर कार्य करता है, फिर परसन्मुखी ज्ञान के ज्ञातृत्व को बढ़ाने की महिमा उसे नहीं रहती। उसका ज्ञान तो स्वसन्मुख एकाग्र होकर अपना कार्य करता है, और आनन्द का वेदन करते-करते मोक्ष को साधता है।

www.vitragvani.com

एक वर्तमान पर्याय तीनों काल को जाने, उससे कहीं उसे अड़चन नहीं होती, या उसमें अशुद्धता नहीं हो जाती। उसी प्रकार आत्मा त्रिकाल स्थिर रहे, उससे कहीं उसे काल की अड़चन या अशुद्धता नहीं हो जाती, नित्यपना तो सहज स्वभाव है। जिस प्रकार अनित्यपना है, उसी प्रकार नित्यपना भी है-दोनों स्वभाववाला आत्मा है।

वर्तमान में जो आत्मा है, वही भूतकाल में था और भविष्य में रहेगा—ऐसा वस्तुस्वरूप है, तीनों काल का स्पर्श करनेवाली वस्तु है; उसे त्रिकाल स्थित रहने में बोझ या अशुद्धता नहीं है। ऐसे द्रव्यस्वभाव के स्वीकारपूर्वक उसमें एकाग्र होकर, अतीन्द्रियभावरूप परिणमित हुई पर्याय, राग से भिन्न कार्य करती है; और उसी स्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान हो, तब वह पर्याय एक-एक समय को भिन्न करके जान सकती है। एक समय को जान सकने का कार्य छद्मस्थ का स्थूल उपयोग नहीं कर सकता; उसका उपयोग असंख्य समय में कार्य करे, ऐसा स्थूल है। बौद्ध जैसे भले ही आत्मा को सर्वथा क्षणिक—एक समय का मानें, परन्तु उसका ज्ञान कहीं एक-एक समय की पर्याय को नहीं पकड़ सकता, वह भी असंख्य समय की स्थूल पर्याय को ही जान सकता है।

द्रव्य क्या, पर्याय क्या, पर्याय की शक्ति कितनी ?— इन बातों का अज्ञानी को निर्णय नहीं होता। वह चाहे जिस वस्तु को चाहे जिस प्रकार से अंधाधुंध-अंधे के समान मान लेता है। अरे, द्रव्य -गुण-पर्याय में से एक भी वस्तु का सच्चा निर्णय करे तो उस ज्ञान में समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों का, तीनों लोक-तीन काल का निर्णय

www.vitragvani.com

आ जाता है और वह ज्ञान, राग से भिन्न होकर अन्तरस्वभाव की ओर उन्मुख हो जाता है; उसमें अनन्त गुणों के सुख का रस भरा हुआ है। अहा! धर्मी की एक ज्ञानपर्याय में कैसी अचिन्त्य शक्ति भरी हुई है और उसमें कैसा अद्‌भुत आत्मवैभव प्रगट हुआ है, उसकी जगत को खबर नहीं है। जगत को ज्ञात हो या न हो, परन्तु वे ज्ञानी स्वयं अपने में तो अपने वैभव का अनुभव कर ही रहे हैं।

हे भाई! तेरी वर्तमान पर्याय में आनन्द तो है नहीं, और यदि तू इस पर्याय जितना ही क्षणिक आत्मा मानेगा तो आनन्द कहाँ से प्राप्त करेगा? आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने पर तुझे कभी आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। नित्यस्वभाव, जो आनन्द से सदा परिपूर्ण है; उसके सन्मुख होकर परिणमित होने पर अनित्य, ऐसी पर्याय में भी तुझे आनन्दरूपी अमृत की सविता प्रवाहित होगी। नित्य-अनित्यरूप सम्पूर्ण वस्तु के स्वीकार बिना आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। नित्य अंश और अनित्य अंश—दोनों स्वभाव की एकतारूप अखण्ड वस्तुस्वभाव है, उस अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करनेवाला जैनशासन जयवन्त है। ●

www.vitragvani.com

तत्त्वचर्चा

१. प्र. – आत्मा को जानने का तत्काल फल क्या ?

उ– आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हो वह।

२. प्र– सच्चा ज्ञान किसे कहते हैं ?

उ – ज्ञानस्वरूप आत्मा को ज्ञेय बनावे, वही सच्चा ज्ञान है।

३. प्र–एक जीव की साधक पर्यायें कितनी ? और सिद्धपर्यायें कितनी ?

उ–एक जीव की साधक पर्यायें सब होकर असंख्य होती हैं और सिद्धपर्यायें अनन्त होती हैं। (साधकपर्यायें सादि–सान्त हैं, सिद्धपर्यायें सादि अनन्त हैं)।

४. प्र – साधक जीव कितने ? सिद्ध जीव कितने ?

उ – साधक जीव जगत में एक साथ असंख्यात होते हैं; सिद्ध जीव अनन्त हैं।

५. प्र– मोक्ष को साधने के लिये उल्लसित वीर्य कब होता है ?

उ– स्वतत्त्व की परम अगाध गम्भीर महिमा जाने, तब उस ओर वीर्य उल्लसित होता है; स्वभाव की महिमा पहिचानने पर उपयोग उस स्वभावसन्मुख झुके तो वीरता प्रगट हो और मोक्ष को साधने के लिये वीर्य उल्लसित हो।

६. प्र– आत्मा का अनुभव करनेवाला क्या ग्रहण करता है ? क्या छोड़ता है ?

www.vitragvani.com

उ- आत्मा का अनुभव करनेवाला चैतन्य से भिन्न समस्त परभावों को छोड़ता है और चैतन्यमात्र निज स्वभाव को ग्रहण करता है।

७. प्र- धन्य कौन है ?

उ- जिन्होंने सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा को जाना है—ऐसे ज्ञानी भगवन्त धन्य हैं। कुन्दकुन्दस्वामी भी ऐसे जीवों को धन्यवाद देते हुए कहते हैं कि

वे धन्य हैं सुकृतार्थ हैं, वे शूर नर पण्डित वही-
दुःस्वप्न में को जिनने मलीन किया नहीं।

८. प्र- केवली भगवान के गुणों की स्तुति किस प्रकार होती है ?

उ- आत्मा के ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता द्वारा मोह को जीतने से केवली भगवान की सच्ची स्तुति होती है। अतीन्द्रियज्ञानरूप हुए सर्वज्ञ की स्तुति, अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही हो सकती है; इन्द्रियों द्वारा या राग द्वारा नहीं हो सकती है।

९. प्र- गृहस्थ सम्यग्दृष्टि का आत्मा सचमुच किसमें बसता है ?

उ- स्वघर-ऐसा जो अपना शुद्ध चैतन्यतत्त्व, उसके द्रव्य -गुण-पर्याय में ही वास्तव में धर्मी बसता है; राग में या पर में अपना वास वह नहीं मानता, उन्हें वह परघर समझता है।

१०. प्र- गृहस्थाश्रम में रहनेवाले जीव को आत्मा का अनुभव और ध्यान होता है ?

www.vitragvani.com

उ- हाँ; धर्मी को गृहस्थपने में भी आत्मा का अनुभव और ध्यान होता है, उसके बिना सम्यग्दर्शन ही सम्भव नहीं। गृहस्थ को पाँच गुणस्थान कहे हैं, उनमें चौथे गुणस्थान से ही आत्म-अनुभव होता है, तभी से जीव सच्चा जैनधर्मी होता है और पश्चात् व्रती होकर पञ्चम गुणस्थान की शुद्धता प्रगट करने पर उसे श्रावकधर्मी कहा जाता है। मुनिदशा तो उससे भी उत्कृष्ट है। सम्यग्दर्शन तथा आत्म-अनुभव के बिना ऐसी कोई दशा नहीं होती। ●

www.vitragvani.com

धर्मी को सम्यक्त्वधारा निरन्तर चालू है

सबसे पहले जब आत्मानुभवसहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तब तो निर्विकल्पदशा ही होती है, ज्ञान का उपयोग अन्तर में स्थिर हो गया होता है परन्तु ऐसी निर्विकल्पदशा दीर्घ काल टिकती नहीं, इसलिए सविकल्पदशा आती है; इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के परिणाम, निर्विकल्प और सविकल्प—ऐसे दोनों दशारूप होकर प्रवर्तते हैं। चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प अनुभव न हो-ऐसा नहीं है। तथा सम्यग्दर्शन के पश्चात् विकल्प और राग हो ही नहीं - ऐसा भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को भी किसी-किसी समय निर्विकल्प अनुभूति होती है तथा चौथे-पाँचवें गुणस्थान में उसे भूमिकानुसार विषय-कषयादि के अशुभ तथा पूजा, दान, शास्त्र-स्वाध्याय, धर्मात्मा की सेवा, साधर्मी का प्रेम, तीर्थयात्रा इत्यादि के उत्कृष्ट शुभपरिणाम आते हैं। उसके अशुभपरिणाम अत्यन्त मन्द पड़ गये होते हैं, विषय-कषायों का प्रेम अन्दर में से उड़ गया होता है, अशुभ के समय भी नरकादि हल्की गति की आयुष्य का बन्धन तो उसे होता ही नहीं। देव-गुरु-धर्म के प्रति उत्साह-भक्ति, शास्त्र के प्रति भक्ति, उसका अभ्यास इत्यादि शुभपरिणाम विशेषरूप से होते हैं परन्तु उसका अन्तर तो इस शुभ से भी उदास है। उसके अन्तर में तो एक शुद्ध आत्मा ही बसा है।

ज्ञान के साथ विकल्प वर्तता है; इसलिए ऐसा कहा कि ज्ञान सविकल्परूप होकर वर्तता है; परन्तु वास्तव में कोई ज्ञान स्वयं विकल्परूप नहीं होता। ज्ञान तो ज्ञानरूप ही वर्तता है; विकल्प से भिन्न ही वर्तता है। ज्ञान और विकल्प, इन दोनों का भेदज्ञान धर्मी

www.vitragvani.com

को सविकल्पदशा के समय भी वर्त रहा है, परन्तु उस भूमिका में परिणाम की स्थिति कैसी होती है, वह यहाँ बताना है।

विषय-कषाय के किञ्चित् भी भाव हों, वहाँ सम्यग्ज्ञान होता ही नहीं अथवा विषय-कषाय के परिणाम सर्वथा छूटकर वीतराग हो, तब ही सम्यग्ज्ञान हो-ऐसा कोई कहे तो वह बात यथार्थ नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसे विषय-कषाय का रस अन्तर में से सर्वथा छूट जाता है, उसमें कहीं अंशमात्र भी आत्मा का हित या सुख नहीं लगता; इसलिए उसमें स्वच्छन्दता से तो वर्तता ही नहीं। वह 'सदन निवासी तदपि उदासी' होता है। इस प्रकार धर्मी को सम्यग्ज्ञान के साथ शुभ-अशुभपरिणाम भी वर्तते हैं, परन्तु इससे कहीं उसके सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान दूषित नहीं हो जाते। ज्ञानपरिणाम भिन्न हैं और शुभाशुभपरिणाम भिन्न हैं, दोनों की धारा भिन्न है। विकल्प और ज्ञान की भिन्नता का भान, विकल्प के समय भी हटता नहीं है। उपयोग भले पर को जानने में रुका हो, इससे कहीं श्रद्धा या ज्ञान मिथ्या नहीं हो जाते। इस प्रकार धर्मी को सविकल्पदशा के समय भी सम्यक्त्व की धारा तो ऐसी की ऐसी वर्तती ही है और इससे उसे मोक्ष को साधने का काम चल ही रहा है।

देखो, यह सम्यग्दृष्टि की अन्दर की दशा! यह दशा तो अद्भुत है। अहा! धन्य है उन साधर्मियों को कि जो ऐसे स्वानुभव की चर्चा भी करते हैं। आत्मा का प्रेम जगाकर प्रीतिपूर्वक ऐसे सम्यक्त्वादि की बात उत्साह से सुनते हैं, वे भी महाभाग्यशाली हैं और यह बात समझकर अन्दर स्वानुभूति करें, वे तो अपूर्व कल्याण

www.vitragvani.com

को पाकर अल्प काल में मोक्ष पाते हैं। ऐसे अध्यात्मरसिक जीव हमेशा विरले ही होते हैं। सम्यग्दृष्टि के भावों की पहिचान जगत को बहुत दुर्लभ है।

यहाँ यह बात समझाते हैं कि शुभ-अशुभ में उपयोग वर्तता हो, तब सम्यक्त्व का अस्तित्व किस प्रकार होता है?-हे भाई! समकित, वह कहीं उपयोग नहीं; समकित तो प्रतीति है। शुभाशुभ में उपयोग वर्तता हो, तब भी शुद्धात्मा का अन्तरङ्ग श्रद्धान तो धर्मी को ऐसा का ऐसा वर्तता है। स्व-पर का जो भेदविज्ञान हुआ है, वह तो उस समय भी वर्त ही रहा है। ये शुभ-अशुभ मेरा स्वभाव नहीं; मैं तो शुद्धचैतन्यभाव ही हूँ-ऐसी निश्चय अन्तरङ्गश्रद्धा धर्मी को शुभ-अशुभ के समय भी हटती नहीं है। जैसे गुमास्ता, सेठ के कार्यों में प्रवर्तता है, नफा-नुकसान होने पर हर्ष-विषाद भी पाता है, तथापि अन्तर में भान है कि नफा-नुकसान का स्वामी मैं नहीं। यदि सेठ की सम्पत्ति को वास्तव में अपनी मान ले तो वह चोर कहलाता है; इसी प्रकार धर्मात्मा का उपयोग, शुभ-अशुभ में भी जाता है, शुभ-अशुभरूप परिणमता है; तथापि अन्तर में उसी समय उसे श्रद्धान है कि ये कार्य मेरे नहीं, इनका स्वामी मैं नहीं; शुद्ध उपयोग के समय जैसी प्रतीति वर्तती थी, शुभ-अशुभ उपयोग के समय भी वैसी ही प्रतीति शुद्धात्मा की वर्तती है; इसलिए उसे शुभ-अशुभ के समय भी सम्यक्त्व में बाधा नहीं आती। यदि परभावों को अपने चेतनभाव के साथ मिलावे या देहादि परद्रव्य की क्रिया को अपनी माने तो तत्त्वश्रद्धान में विपरीतता होती है; इसलिए मिथ्यात्व होता है।

तथा, निर्विकल्पता के समय निश्चयसम्यक्त्व और सविकल्पता

www.vitragvani.com

के समय व्यवहारसम्यक्त्व, ऐसा भी नहीं है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व को नष्ट करके निर्विकल्प स्वानुभूतिपूर्वक शुद्धात्म-प्रतीतिरूप जो सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, वह निश्चय-सम्यग्दर्शन है और यह निश्चयसम्यग्दर्शन, सविकल्प और निर्विकल्प दोनों दशाओं के समय एक सरीखा ही है। जब सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, तब तो स्वानुभव और निर्विकल्पता हुई, परन्तु उस निर्विकल्प स्वानुभव में सदाकाल नहीं रह सकता, निर्विकल्पदशा दीर्घ काल तक नहीं रहती; पश्चात् सविकल्पदशा में आने पर शुभ और अशुभ में उपयोग जुड़ता है और शुद्धात्मप्रतीति तो उस समय भी चालू ही रहती है - ऐसी समकिती महात्मा की स्थिति है।

चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प अनुभूति तो कभी ही होती है; इसलिए निर्विकल्पता या सविकल्पता से सम्यक्त्व का माप नहीं निकलता। सम्यग्दृष्टि की विशेषता यह है कि स्वानुभूति में जिस चैतन्यरस का वेदन हुआ, उस चैतन्यस्वरूप ही अपने आत्मस्वरूप को प्रतीति में लिया है; सविकल्पदशा के समय भी उस चैतन्यस्वरूप में शुभाशुभराग को वे मिलाते नहीं हैं, दोनों के स्वाद सर्वथा भिन्न ही जानते हैं और स्वानुभूति के बल से अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से जो अपूर्व शान्ति प्रगट हुई है, वह शान्ति उन्हें निरन्तर चालू रहती है। उस शान्ति द्वारा ही उसकी सच्ची पहिचान होती है।

'शान्त दशा तिनकी पहिचानी,
करे कर जोड़ 'बनारसी' वंदन।'

www.vitragvani.com

धन्य है उनको...
जो स्वानुभव की चर्चा करते हैं

चैतन्यस्वभाव के प्रति मुमुक्षु को उल्लास होता है

२०० वर्ष पहले पण्डित श्री टोडरमलजी लिखते हैं कि अध्यात्मरस के रसिक जीव बहुत ही थोड़े होते हैं। जो स्वानुभव की चर्चा करते हैं, उन्हें भी धन्य है! वाह! देखो, यह स्वानुभव के रस की महिमा! जिसे विकार का रस छूटकर, अध्यात्म का रस रुचा है वे जीव भाग्यशाली हैं। सिद्धसमान सदा पद मेरौ- ऐसी अन्तर्दृष्टि और उसके स्वानुभव की भावना करनेवाले जीव वास्तव में धन्य हैं शास्त्र में भी कहा है कि —

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापिऽहि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥२३॥

चैतन्य की प्रीतिसहित करे उसकी कथा का श्रवण जो;
वे भविकजन निश्चित् अहो! शीघ्र पाते मोक्ष को॥

अध्यात्मरस की प्रीति कहो या चैतन्यस्वभाव की प्रीति कहो, उसकी महिमा और फल दर्शाते हुए वनवासी दिगम्बर सन्त श्री पद्मनन्दिस्वामी पद्मनन्दिपच्चीसी में कहते हैं कि जिसने प्रीति चित्तपूर्वक-उत्साह से इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की वार्ता भी सुनी है, वह भव्य जीव अवश्यमेव भविष्य में निर्वाण प्राप्त करता है, अर्थात् वह अल्प काल में अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा। चैतन्य के साक्षात् स्वानुभव की तो क्या बात! किन्तु जिसके अन्तर में उसकी ओर प्रेम जगा और रागादि का प्रेम छूटा, वह जीव भी अवश्य मोक्ष

www.vitragvani.com

पावेगा! शास्त्रकार ने एक खास शर्त रखी है कि 'चैतन्य के प्रति प्रेम से' उसकी बात सुनें; अर्थात् जिसके अन्तर में जरा सा भी राग का प्रेम हो, राग से लाभ होने की बुद्धि हो, उसको चैतन्य का सच्चा प्रेम नहीं है किन्तु राग का प्रेम है, उसको चैतन्यस्वभाव के प्रति भीतर से सच्चा उल्लास नहीं आता। यहाँ तो चैतन्य की प्रीतिवाले सुलटे जीव की बात है। राग का प्रेम व देह-परिवार का प्रेम तो जीव अनादि से करता ही आया है, किन्तु अब उस प्रेम को तोड़कर जिसने चैतन्य का प्रेम जागृत किया; वीतरागी स्वभावरस का रङ्ग लगाया, वह जीव धन्य है.... वह निकट मोक्षगामी है। चैतन्य की बात सुनते ही भीतर में रोमाञ्च उल्लसित हो जाय... असंख्य प्रदेश चमक उठें कि वाह! मेरे आत्मा की यह कोई अपूर्व नयी बात मुझे सुनने को मिली, कभी जो नहीं सुना था, वह चैतन्यतत्त्व आज मेरे सुनने में आया; पुण्य-पाप से भिन्न ही यह कोई अनोखी बात है; इस तरह अन्तरस्वभाव का उल्लास लाकर और बहिर्भावों का (पुण्य-पाप आदि परभावों का) उत्साह छोड़कर जिसने एक बार स्वभाव का श्रवण किया, उसका बेड़ा पार! श्रवण तो निमित्त है किन्तु इससे उसके भाव में अन्तर पड़ गया, स्वभाव और परभाव के बीच में थोड़ी सी तराड़ पड़ गयी; अब वह उन दोनों का भिन्न अनुभव करके ही रहेगा।

'मैं ज्ञायक चिदानन्दघन हूँ; एक समय में परिपूर्ण शक्ति से भरा हुआ ज्ञान और आनन्द का सागर हूँ'—ऐसी अध्यात्म की बात सुनानेवाल सन्त-गुरु भी महाभाग्य से ही मिलते हैं और महाभाग्य से जब ऐसी बात सुनने को मिली तब, प्रसन्नचित्त से अर्थात् इसके सिवाय दूसरे सबकी प्रीति छोड़कर इसकी ही प्रीति करके, 'मुझे

www.vitragvani.com

तो यही समझना है, इसका ही अनुभव करना है'—ऐसी गहरी उत्कण्ठा जगाकर, उपयोग को इस ओर जरा स्थिर करके जिस जीव ने सुना, वह जीव अवश्य अपनी प्रीति को आगे बढ़कर स्वानुभव करेगा और मुक्ति को पावेगा। इसलिए कहा कि धन्य है उनको, जो अध्यात्मरस के रसिक होकर ऐसी स्वानुभव की चर्चा करते हैं।

प्रश्न : जीव अनन्त बार त्यागी हुआ और भगवान के समवसरण में भी गया, तब क्या उसने शुद्धात्मा की बात नहीं सुनी होगी ?

उत्तर : देखो ! वहाँ 'प्रसन्नचित्त से' सुनने का कहा है; अतएव वैसे ही सुन लेने की बात नहीं है, किन्तु अन्तर में चैतन्य का उल्लास लाकर जो सुनें, उनकी बात है। क्या सुनें ? कि चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात सुनें। किस प्रकार सुनें ? तो कहते हैं कि उल्लास के साथ सुनें; राग के उल्लास से नहीं किन्तु चैतन्य के उल्लास से सुनें। उसे ही यहाँ श्रवण कहा है। ऐसे श्रवण द्वारा शुद्धात्मा लक्ष्यगत किया,–वह अपूर्व है।

जीव को शुद्धनय का पक्ष भी पूर्व में नहीं आया; शुद्धनय का पक्ष कहो या चैतन्य की प्रीति कहो, या शुद्धात्मा का उल्लास कहो, ये सब एक ही अर्थ के सूचक हैं। जैन का द्रव्यलिङ्गी साधु होकर के भी जो मिथ्यादृष्टि बना रहा, उसका यह कारण है कि भीतर से उसको चैतन्य का उल्लास नहीं आया, किन्तु अन्तर में सूक्ष्म विकार का ही उल्लास रहा। प्रगट में तो वह राग से धर्म होने को नहीं कहता, किन्तु भीतर अभिप्राय की गहराई में उसको विकार का रस रह गया है। शुद्ध चैतन्य का सच्चा पक्ष किया, ऐसा तभी

www.vitragvani.com

कहलायेगा, जब उसको लक्ष्यगत करे। समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं कि—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥

काम-भोग और बन्ध की कथा तो सभी जीवों ने पूर्व में अज्ञान अवस्था में अनन्त बार सुनी है, अनन्त बार परिचय में ली है एवं अनन्त बार उसका अनुभव भी किया है, परन्तु पर से विभक्त ज्ञानानन्दस्वरूप एकाकार आत्मा की बात न तो पूर्व में कभी सुनी है, न परिचय में ली है और न उसका अनुभव किया है। देखो! यहाँ मात्र शब्द श्रवण में आना या नहीं आना, उसको ही श्रवण नहीं गिना, किन्तु जिसको जिसकी रुचि-भावना-अनुभव है, उसको उसी का श्रवण है। कानों में चाहे शुद्धात्मा के शब्द पड़ रहे हों, परन्तु भीतर में यदि राग की मिठास-भावना और अनुभव वर्तता है तो वह जीव सचमुच में शुद्धात्मा की कथा नहीं सुन रहा है परन्तु रागकथा का ही श्रवण कर रहा है। शुद्धात्मा का श्रवण तब ही गिना जाता है, जब कि शुद्धात्मा को लक्ष्यगत करे।

प्रश्न : बहुत जीव ऐसे भी हैं कि जिन्होंने अब तक त्रसपर्याय ही कभी नहीं पायी, अर्थात् उनको कभी कान ही नहीं मिले; तब फिर उन जीवों ने भी काम-भोग-बन्धन की कथा अनन्त बार सुनीं-ऐसा किस तरह कहा जा सकता है ?

उत्तर : उसमें भी उपर्युक्त न्याय लागू होता है। जिस प्रकार, शुद्धात्मा की जिसको रुचि नहीं है, उसको शुद्धात्मा के शब्द कान में पड़ते हुए भी, उसके शुद्धात्मा का श्रवण नहीं कहते, किन्तु बन्ध

www.vitragvani.com

कथा का ही श्रवण कहते हैं क्योंकि उस समय भी उसके भावश्रुत में तो बन्धभाव का ही सेवन हो रहा है; उसी प्रकार, निगोदादि के जीवों को बन्धकथा के शब्द भले ही श्रवण में नहीं आते, किन्तु उनके भाव में तो बन्धभाव का सेवन चल ही रहा है, इसलिए वे जीव, बन्धकथा ही सुन रहे हैं-ऐसा कहने में आता है। इस प्रकार जिस उपादान के भाव में जिसका पोषण चल रहा है, उसका ही वह श्रवण कर रहा है—ऐसा कहने में आता है।

भाई! तेरे भाव की रुचि न बदले तो अकेले शब्द तुझे क्या करेंगे? यहाँ तो कहते हैं कि अहो, एक बार भी अन्तर्लक्ष्य करके चैतन्य के उल्लास से उसकी बात जिसने सुनी, उसके भवबन्धन टूटने लगे; उसके ही सच्चा श्रवण कहने में आता है। इस अपेक्षा से कहते हैं कि धन्य है उनको जो स्वानुभव की चर्चा करते हैं।

अहा! मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, वीतरागी सन्तों की वाणी मेरे चैतन्यस्वरूप को ही प्रकाशित करती है; इस प्रकार अन्तर में चैतन्य की झनझनाहट जगाकर जिसने उत्साह से-वीर्योल्लास से श्रवण किया, वह अल्प काल में ही स्वभाव के उल्लास के बल से मोक्ष को साधेगा। ऐसे चैतन्य की महिमा आना, वह माङ्गलिक है।●

www.vitragvani.com

सम्यग्दृष्टि का समस्त ज्ञान सम्यक् है
(वह मोक्षमार्गरूप निज प्रयोजन को साधता है)

आत्म-अनुभवी सम्यग्दृष्टि जो कुछ जानता है, वह सर्व जानना सम्यग्ज्ञानरूप है। जहाँ शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व हुआ, वहाँ सब ज्ञान भी स्व-पर की भिन्नता को यथार्थ साधता हुआ सम्यक्रूप परिणमित हुआ; इसलिए ज्ञानी का समस्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ। कदाचित् क्षयोपशम-दोष से बाहर के अप्रयोजनभूत कोई पदार्थ (घट-पट, डोरी इत्यादि) अयथार्थ ज्ञात हो जायें, तथापि उससे मोक्षमार्गरूप प्रयोजन साधने में कोई विपरीतता उसे नहीं होती, क्योंकि अन्दर की प्रयोजनरूप वस्तु जानने में उसे कोई विपरीतता नहीं होती। अन्दर में राग को ज्ञानरूप जाने या शुभराग को मोक्षमार्गरूप जाने-ऐसी प्रयोजनभूत तत्त्वों में विपरीतता ज्ञानी को नहीं होती; प्रयोजनभूत तत्त्व—स्वभाव-विभाव की भिन्नता, स्व-पर की भिन्नता—इत्यादि को तो उसका ज्ञान यथार्थ ही साधता है, उसका समस्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है; और अज्ञानी कदाचित् डोरी को डोरी, सर्प को सर्प, डॉक्टरपना, वकालात, ज्योतिष इत्यादि अप्रयोजनरूप तत्त्वों को जाने, तथापि स्वप्रयोजन को उसका ज्ञान नहीं साधता होने से उसका समस्त जानपना मिथ्या है, स्व-पर की भिन्नता और कारण-कार्य इत्यादि में उसकी भूल होती है।

अहा! यहाँ तो कहते हैं कि जो ज्ञान, मोक्षमार्ग को साधने में काम आवे, उसमें विपरीतता नहीं होती, वही सम्यग्ज्ञान है और भले बाहर का चाहे जितना जानपना हो परन्तु मोक्षमार्ग को साधने

www.vitragvani.com

में जो ज्ञान काम नहीं आता, उसमें जिसे विपरीतता होती है, वह मिथ्याज्ञान है।

जगत् में सबसे मूल प्रयोजनभूत वस्तु, शुद्धात्मा है; उसे जानने से स्व-पर सबका सम्यग्ज्ञान हुआ; इसलिए श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि 'जिसने आत्मा जाना, उसने सर्व जाना।' और 'अनन्त काल से जो ज्ञान भव हेतु होता था, उस ज्ञान को एक समयमात्र में जात्यान्तर करके जिसने भव निवृत्तिरूप किया, उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार।' ऐसे सम्यग्दर्शन बिना समस्त ज्ञान और समस्त आचरण व्यर्थ है। अन्तर्मुख निर्विकल्प उपयोगपूर्वक सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् समकिती को ज्ञान का उपयोग स्व में हो या पर में हो, तब भी सम्यक्त्व ऐसा का ऐसा प्रवर्तता है।

यहाँ तो कहते हैं कि समकिती कदाचित् डोरी को सर्प समझ जाये, इत्यादि प्रकार से बाहर के अप्रयोजनरूप पदार्थ अन्यथा ज्ञात हो जाये, तथापि उसका ज्ञान, सम्यग्ज्ञान ही है क्योंकि उसमें कहीं आत्मा के स्वरूपसम्बन्धी भूल नहीं है परन्तु वह तो उस प्रकार के बाहर के क्षयोपशम का अभाव है; ज्ञानावरण के उदयजन्य अज्ञानभाव जो बारहवें गुणस्थान तक होता है, उस अपेक्षा से उसे 'अज्ञान' भले कहा जाये परन्तु मोक्षमार्ग साधने में या न साधने की अपेक्षा से (अर्थात् आत्मा का सच्चा स्वरूप जानने या न जानने की अपेक्षा से) जो सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता है, उसमें तो समकिती को सब सम्यग्ज्ञान ही है, उसे मिथ्याज्ञान नहीं है। उसे डोरी को डोरी न जानने से सर्प की कल्पना हो गयी तो कहीं इससे उसके ज्ञान में स्व-पर की एकत्वबुद्धि या रागादि परभावों में तन्मय बुद्धि नहीं हो जाती; इसलिए उसका ज्ञान, मिथ्या नहीं

www.vitragvani.com

होता। उस समय भी भेदज्ञान तो यथार्थरूप से वर्त ही रहा है; इसलिए उसका समस्त ज्ञान, सम्यग्ज्ञान ही है। लोगों को बाहर के जानपने की जितनी महिमा है, उतनी अन्दर के भेदविज्ञान की नहीं। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान क्षण-क्षण में अन्तर में क्या काम करता है-उसकी लोगों को खबर नहीं है। प्रतिक्षण अन्दर में स्वभाव और परभाव के बंटवारे का अपूर्व कार्य उसके ज्ञान में हो ही रहा है। वह ज्ञान स्वयं राग से भिन्न पड़कर, स्वभाव की जाति का हो गया है; वह तो केवलज्ञान का टुकड़ा है। वह ज्ञान, इन्द्रिय-मन द्वारा नहीं हुआ परन्तु आत्मा द्वारा हुआ है। मेरा ज्ञान तो सदा ज्ञानरूप ही रहता है; रागरूप मेरा ज्ञान नहीं होता-ऐसे ज्ञान को ज्ञानरूप ही रखता हुआ वह सदा भेदज्ञानरूप, सम्यग्ज्ञानरूप परिणमता है; इस प्रकार उसका समस्त ज्ञान, सम्यग्ज्ञान ही है-ऐसा जानना।

एक जीव बहुत शास्त्र पढ़ा हुआ हो और बड़ा त्यागी होकर हजारों जीवों से पुजाता हो परन्तु यदि शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व न हो तो उसका समस्त जानपना मिथ्या है; दूसरा जीव छोटा मेंढ़क, मछली, सर्प, सिंह, या बालक दशा में हो, शास्त्र के शब्द पढ़ना या बोलना न आता हो, तथापि यदि शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व से सहित है तो उसका समस्त ज्ञान सम्यक् है और वह मोक्ष के पंथ में है; समस्त शास्त्रों के रहस्यरूप अन्दर का स्वभाव-परभाव का भेदज्ञान उसने स्वानुभव से जान लिया है। अन्दर में जो बाह्य के ओर की शुभ या अशुभ वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वह मैं नहीं, उनके वेदन में मेरी शान्ति नहीं; मैं तो ज्ञानानन्द हूँ-कि जिसके वेदन में मुझे शान्ति अनुभव में आती है; इस प्रकार अन्तर के वेदन में उस समकिती को भेदज्ञान तथा

www.vitragvani.com

शुद्धात्मप्रतीति वर्तती है। शुद्धात्मा से विरुद्ध किसी भाव में उसे कभी आत्मबुद्धि नहीं होती। जब से सम्यग्दर्शन हुआ, तब से ज्ञान इस राग से पृथक् काम करने लगा; इसलिए सम्यग्दृष्टि जो कुछ जानता है, वह सब सम्यग्ज्ञान है।

कोई कहे—'धर्मी हुआ और आत्मा को जाना, इसलिए पर का भी सब जानपना उसे हो जाये' तो कहते हैं कि नहीं; पर को -सबको जान ही ले, ऐसा नियम नहीं है। उघाड़ होवे, तद्नुसार जानता है; वह कदाचित् उस प्रकार का उघाड़ न होने के कारण डोरी को सर्प इत्यादि प्रकार से अन्यथा जाने, तथापि डोरी या सर्प दोनों से भिन्न मैं तो ज्ञान हूँ-ऐसा स्व-पर की भिन्नता का ज्ञान तो उसे यथार्थ ही रहता है, वह हटता नहीं है। डोरी को डोरी जाना होता तो भी, उससे मैं भिन्न हूँ—ऐसा जानता और डोरी को सर्प जाना तो भी उससे मैं भिन्न हूँ-ऐसा जानता है, इसलिए स्व-पर की भिन्नता जाननेरूप सम्यक्पने में तो कोई अन्तर नहीं पड़ा है। आत्मा का जानपना हो, इसलिए पर का सब जानपना तुरन्त ही प्रगट हो जाये—ऐसा कोई नियम नहीं है।

जहाँ शुद्धात्मा का श्रद्धान है, वहाँ सम्यग्ज्ञान है; जहाँ शुद्धात्मा का श्रद्धान नहीं वहाँ मिथ्याज्ञान है; इसलिए बाहर का जानपना कम हो तो उसका ज्ञानी को खेद नहीं और बाहर का जानपना विशेष हो तो उसकी ज्ञानी को महिमा नहीं। महिमावन्त तो आत्मा है और वह जिसने जान लिया, उस ज्ञान की महिमा है। अहो! जगत् से भिन्न मेरे आत्मा को मैंने जान लिया है, तो मेरे ज्ञान का प्रयोजन मैंने साध लिया है-ऐसे निजात्म-ज्ञान से ज्ञानी सन्तुष्ट है-तृप्त है।

www.vitragvani.com

अहा! आत्मज्ञान की महिमा अचिन्त्य है, उस ज्ञान की महिमा भूलकर बाहर के जानपने की महिमा में जीव अटक रहे हैं। संसार के कोई निष्प्रयोजन पदार्थ को जानने में भूल हुई तो भले हुई, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि हमारे आत्मा को जानने में हमारी भूल नहीं होती... हमारे आतमराम को हम नहीं भूलते। यह ज्ञान की मस्ती और नि:शङ्कता कोई अद्‌भुत है! अनन्त गुणों से परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति का जोर उस ज्ञान के साथ वर्त रहा है। इसलिए ऐसा सम्यग्ज्ञान, वह केवलज्ञान का टुकड़ा है, वह मोक्षसुख का स्वाद चखते-चखते सिद्धपद को साध रहा है। ●

www.vitragvani.com

'केवलज्ञान का टुकड़ा'

आत्मज्ञान की अचिन्त्य महिमा

अहा! देखो यह सम्यग्ज्ञान की केवलज्ञान के साथ सन्धि! मति-श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का अंश कौन कहे?—कि जिसने पूर्ण ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लिया हो और उस स्वभाव के आधार से सम्यक् अंश प्रगट किया हो, वही पूर्णता के साथ की सन्धि से (पूर्णता के लक्ष्य से) कह सकता है कि मेरा यह ज्ञान है, वह केवलज्ञान का अंश है, केवलज्ञान की ही जाति है परन्तु जो राग में ही लीन वर्तता हो, उसका ज्ञान तो राग का हो गया है, उसे तो राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव की खबर ही नहीं। वहाँ 'यह ज्ञान इस स्वभाव का अंश है'—ऐसा वह किस प्रकार जानेगा? ज्ञान को ही पर से और राग से भिन्न नहीं जानता, वहाँ उसे स्वभाव का अंश कहना तो उसे कहाँ रहा? स्वभाव के साथ जो एकता करता है, वही अपने ज्ञान को 'यह स्वभाव का अंश है'-ऐसा जान सकता है। राग के साथ एकतावाला यह बात नहीं जान सकता।

अहा! यह तो अलौकिक बात है! मति-श्रुतज्ञान को स्वभाव का अंश कहना अथवा तो केवलज्ञान का अंश कहना, यह बात अज्ञानी को समझ में नहीं आती क्योंकि उसे तो राग और ज्ञान एकमेक भासित होते हैं। ज्ञानी तो निःशङ्क जानता है कि जितने रागादि अंश हैं, वे सब मेरे ज्ञान से भिन्न परभाव हैं और जितने ज्ञानादि अंश हैं, वे सब मेरे स्वभाव हैं; वे मेरे स्वभाव के ही अंश हैं और वे अंश बढ़-बढ़कर केवलज्ञान होनेवाला है।

www.vitragvani.com

प्रश्न : चार ज्ञान को तो विभावज्ञान कहा है, यहाँ उन्हें स्वभाव का अंश कैसे कहा ?

उत्तर : उन्हें विभाव कहा है, वह तो अपूर्णता की अपेक्षा से कहा है; किसी विरुद्ध जाति की अपेक्षा से (रागादि की तरह) उन्हें विभाव नहीं कहा। वे चारों ज्ञान हैं तो स्वभाव के ही अंश... और स्वभाव की ही जाति, परन्तु वे अभी अपूर्ण हैं और अपूर्णता के आश्रय से पूर्ण ज्ञान नहीं खिलता; इसलिए पूर्ण स्वभाव का आश्रय कराने के लिये अपूर्ण ज्ञानों को विभाव कहा है परन्तु जिस प्रकार रागादि विभाव तो स्वभाव से विरुद्ध हैं-उनकी जाति ही अलग है; इसी प्रकार कहीं इस ज्ञान की जाति अलग नहीं है, ज्ञान तो स्वभाव से अविरुद्ध जाति का ही है। जैसे पूर्ण प्रकाश से ज्वाजल्यमान सूर्य में से बदलों का विलय होने पर जो प्रकाश किरणें झलकती हैं, वे सूर्य के प्रकाश का ही अंश है; इसी प्रकार ज्ञानावरणादि बादल टूटने से सम्यक्मति-श्रुतरूप जो ज्ञान-किरणें प्रगट हुईं, वे केवलज्ञान के प्रकाश से ज्वाजल्यमान जो चैतन्यसूर्य, उसके ही प्रकाश के अंश हैं। सम्यक्मति-श्रुतरूप जो अंश हैं, वे सब चैतन्यसूर्य का ही प्रकाश है।

जैसे एक ही पिता के पाँच पुत्रों में कोई बड़ा हो, कोई छोटा हो परन्तु हैं तो एक ही पिता के पुत्र; इसी प्रकार केवलज्ञान से लेकर मतिज्ञान, ये पाँचों सम्यग्ज्ञान, ज्ञानस्वभाव के ही विशेष हैं। उसमें केवलज्ञान, वह बड़ा महान पुत्र है और मतिज्ञानादि भले छोटे हैं, तथापि वे केवलज्ञान की ही जाति है। शास्त्र में गणधर को 'सर्वज्ञपुत्र' कहा है; इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि मति-श्रुतज्ञान, केवलज्ञान के पुत्र हैं, सर्वज्ञता के अंश हैं। जैसे सिद्ध भगवान का पूर्ण अतीन्द्रिय

www.vitragvani.com

आनन्द और समकिती का भूमिका योग्य अतीन्द्रिय आनन्द-इन दोनों आनन्द की एक ही जाति है, मात्र पूर्ण और अपूर्ण का ही भेद है परन्तु जाति में तो जरा भी भेद नहीं है; इसलिए समकिती का आनन्द, वह सिद्ध भगवान के आनन्द का ही अंश है; आनन्द की तरह उनका मतिज्ञान भी केवलज्ञान का ही अंश है। पूर्ण और अपूर्ण का भेद होने पर भी दोनों की जाति में किञ्चित् भी भेद नहीं है।

सम्यक्मति-श्रुत यदि केवलज्ञान की जाति का न हो और विजातिय हो तो वह केवलज्ञान को किस प्रकार साध सकेगा? केवलज्ञान की जाति हो, वही केवलज्ञान को साध सकेगा। राग, वह केवलज्ञान की जाति नहीं है; इसलिए वह केवलज्ञान को नहीं साध सकता; सम्यक् मति-श्रुतज्ञान, वह केवलज्ञान की जाति है; इसलिए अन्तर में एकाग्र होकर वह केवलज्ञान को साधता है। ●

www.vitragvani.com

निर्विकल्प-स्वानुभूति होने का सुन्दर वर्णन

स्वरूप के चिन्तन में आनन्द तरङ्गें उठती हैं.... रोमाञ्च होता है!

''वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूपध्यान करने को उद्यमी होता है; वहाँ प्रथम स्व-पर स्वरूप का भेदविज्ञान करे; नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्म से रहित चैतन्यचित्चमत्कारमात्र अपना स्वरूप जाने; पीछे पर का भी विचार छूट जाय, और केवल स्वात्मविचार ही रहता है; वहाँ निजस्वरूप में अनेक प्रकार से अहंबुद्धि धरता है, 'मैं चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ' इत्यादि विचार होने पर सहज ही आनन्द-तरङ्ग उठती हैं, रोमाञ्च होता है; इसके बाद ऐसा विचार भी छूट जाय और केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे, वहाँ सर्व परिणाम उसरूप में एकाग्र होकर प्रवर्ते; दर्शन-ज्ञानादिक का व नय-प्रमाणादिक का विचार भी विलय हो जाय। सविकल्पता से जिस चैतन्यस्वरूप का निश्चय किया था, उसी में व्याप्य-व्यापक होकर ऐसा प्रवर्ते कि जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो जाय। ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है।''

देखो, यह स्वानुभव की अलौकिक चर्चा। यहाँ तो एक बार जिसको स्वानुभव हो गया है और फिर से वह निर्विकल्प-स्वानुभव करता है, उसकी बात की है परन्तु पहली बार जो निर्विकल्प -स्वानुभव का उद्यम कर रहा है, वह भी इसी प्रकार से भेदज्ञान व स्वरूप-चिन्तन के अभ्यास द्वारा परिणाम को निजस्वरूप में तल्लीन करके स्वानुभव करता है। इस निर्विकल्प-अनुभव के समय आत्मा अपने आप में व्याप्य-व्यापकरूप से ऐसा तल्लीन वर्तता है-

www.vitragvani.com

अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय की ऐसी एकता हो जाती है कि ध्याता-ध्येय का भेद भी वहाँ नहीं रहता; आत्मा अपने आप में लीन होकर अपना स्वानुभव करता है। वहाँ स्वानुभव के परम आनन्द का भोगना है परन्तु उसका विकल्प नहीं है। एक बार ऐसा निर्विकल्प अनुभव जिसके हुआ हो, उसके ही निश्चयसम्यक्त्व है-ऐसा जानना। ऐसे अनुभव की रीति यहाँ दिखलाते हैं।

यहाँ सम्यग्दृष्टि जिस प्रकार से निर्विकल्प-अनुभव करता है, यह दिखाया है। इसके उदाहरण के अनुसार दूसरे जीवों को भी निर्विकल्प-अनुभव करने का यही उपाय है-ऐसा समझ लेना।

'वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूपध्यान करने का उद्यमी होता है'—चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को बार-बार निर्विकल्पध्यान नहीं होता, परन्तु कभी-कभी शुभाशुभप्रवृत्ति से दूर होकर, शान्तपरिणाम से स्वरूप का ध्यान करने का उद्यमी होता है। जिस स्वरूप का अपूर्व स्वाद स्वानुभव में चखा है, उसी का फिर-फिर अनुभवन करने के लिये वह उद्यम करता है। तब प्रथम तो स्व-पर के स्वरूप का भेदविज्ञान करे, अर्थात् पहले जो भेदज्ञान किया है, उसी को फिर से चिन्तन में लावे; यह स्थूल देहादि तो मेरे से स्पष्टत: भिन्न हैं, इसके कारणरूप जो भीतर के सूक्ष्म द्रव्यकर्म, वह भी आत्मस्वरूप से अत्यन्त भिन्न हैं, दोनों की जाति ही भिन्न है। मैं चैतन्य और वह जड़, मैं परमात्मा और वह परमाणु—ऐसे दोनों की भिन्नता है और भिन्नता होने से कर्म मेरा कुछ नहीं करता।

अब अन्दर में, आत्मा की पर्याय में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष-क्रोधादि भावकर्म, से भी मेरा स्वरूप अत्यन्त भिन्न है; मेरे

www.vitragvani.com

ज्ञानस्वरूप की और इन रागादि परभावों की जाति ही जुदी है; राग का वेदन तो आकुलतारूप है और ज्ञान का वेदन तो शान्तिमय है—ऐसे बहुत प्रकार से द्रव्यकर्म-नोकर्म और भावकर्म से अपने स्वरूप की भिन्नता का चिन्तन करे; इन सबसे भिन्न मैं चैतन्य -चमत्कारमात्र हूँ - ऐसा विचार करे। ऐसे वस्तुस्वरूप के निर्णय में ही जिसकी भूल हो, वह तो स्वरूप के ध्यान का सच्चा उद्यम नहीं कर सकता, क्योंकि जिसका ध्यान करने का है, उसकी पहले पहिचान तो होनी चाहिए न! पहिचान बिना ध्यान किसका? इस प्रकार स्व-पर की भिन्नता के विचार से परिणाम को जरा स्थिर करे, बाद में पर का विचार छूटकर, केवल निजस्वरूप का ही विचार रहे। जिस स्वरूप का पहले अनुभव किया है अथवा जिस स्वरूप को निर्णय में लिया है, उसको अत्यन्त महिमा ला-लाकर उसी के विचार में मन को एकाग्र करता है। परद्रव्यों में से व परभावों में तो अहंबुद्धि छोड़ दी है, और अपने निजस्वरूप को ही अपना जान के उसी में अहंबुद्धि की है। मैं चिदानन्द हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सहज सुखस्वरूप हूँ, अनन्त शक्ति का निधान मैं हूँ, सर्वज्ञस्वभावी मैं हूँ'—इत्यादि प्रकार से अपने निजस्वरूप में ही अहंबुद्धि कर-करके उसका चिन्तवन करता है। नियमसार में प्रभु कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि—

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी॥९६॥

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी॥९७॥

www.vitragvani.com

कैवल्य दर्शन-ज्ञान-सुख, कैवल्य शक्ति स्वभाव जो।
'मैं हूँ वही', यह चिन्तवन, होता निरन्तर ज्ञानी को॥९६॥
निजभाव को छोड़े नहीं, किञ्चित् ग्रहे परभाव नहीं।
देखे व जाने 'मैं वही', ज्ञानी करे चिन्तन यही॥९७॥

—ऐसे निज आत्मा की भावना करने की शिक्षा मुमुक्षु को दी है और कहा है कि ऐसी भावना के अभ्यास से मध्यस्थता होती है, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी ऐसी निजात्मभावना से प्रगट होते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद में, एवं सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये भी, ऐसी ही भावना और ऐसा चिन्तन कर्तव्य है। 'सहज शुद्धात्मा की अनुभूति जितना ही मैं हूँ, मेरे स्वसंवेदन में आ रहा हूँ-यही मैं हूँ'—ऐसे सम्यक् चिन्तन में सहज ही आनन्द तरङ्गें हैं और रोमाञ्च होता है....

देखो तो सही, इसमें चैतन्य की अनुभूति के कितने रस का घोलन हो रहा है! ऊपर में जितना वर्णन किया, वहाँ तक तो अभी सविकल्पदशा है। इस चिन्तन में जो 'आनन्दतरङ्ग उठतीं हैं, वह निर्विकल्प अनुभूति का आनन्द नहीं है परन्तु स्वभाव की ओर के उल्लास का आनन्द है, शान्तपरिणाम का आनन्द है; और इसमें स्वभाव की ओर के अतिशय प्रेम के कारण रोमाञ्च हो उठता है। रोमाञ्च अर्थात् विशेष उल्लास; स्वभाव के प्रति विशेष उत्साह। जैसे संसार में भय का या आनन्द का कोई विशिष्ट खास प्रसङ्ग बनने पर रोम-रोम उल्लसित हो जाता है, उसको रोमाञ्च हुआ कहते हैं; वैसे यहाँ स्वभाव के निर्विकल्प-अनुभव के खास -विशिष्ट प्रसङ्ग में धर्मी को आत्मा के असंख्यप्रदेश में स्वभाव के

www.vitragvani.com

अपूर्व उल्लास का रोमाञ्च होता है। इसके बाद चैतन्यस्वभाव के रस की उग्रता होने पर, ये विचार (विकल्प) भी छूट जाय, और परिणाम अन्तर्मग्न होकर केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे, सर्व परिणाम, स्वरूप में एकाग्र होकर वर्ते, उपयोग स्वानुभव में प्रवर्ते, इसी का नाम निर्विकल्प आनन्द का अनुभव है। वहाँ दर्शन-ज्ञान -चारित्र सम्बन्धी या नय-प्रमाणादि का कोई विचार नहीं रहता, सभी विकल्पों का विलय हो जाता है। यहाँ पर स्वरूप में ही व्याप्य-व्यापकता है, अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों एकमेक -एकाकार अभेदरूप से अनुभव में आते हैं। अनुभव करनेवाली पर्याय, स्वरूप में व्याप गई है, जुदी नहीं रहती। परभाव, अनुभव से बाहर रह गये, परन्तु निर्मल पर्याय तो अनुभूति के साथ मिल गयी; आत्मा ही अनुभूतिस्वरूप होकर परिणमित हुआ।

पहले, विचारदशा में ज्ञान ने जिस स्वरूप को लक्ष्य में लिया था, उसी स्वरूप में ज्ञान का उपयोग जुड़ गया, और बीच में से विकल्प निकल गया, अकेला ज्ञान रह गया, तब अतीन्द्रिय निर्विकल्प-अनुभूति हुई, परम आनन्द हुआ। ऐसी अनुभूति में प्रतिक्रमण, सामायिक, प्रत्याख्यान आदि सभी धर्म समा जाते हैं। इस अनुभूति को ही 'जैनशासन' कहा है; यही वीतरागमार्ग है, यही जैनधर्म है, यही श्रुत का सार है, सन्तों की व आगम की यही आज्ञा है। शुद्धात्मानुभूति की अपार महिमा है, वह कहाँ तक कहें? आप स्वयं अनुभूति करें, तभी उसकी खबर पड़े।

यह शुद्ध अनुभव अर्थात् निर्विकल्प अनुभव क्या चीज़ है और कैसी यह अन्तरङ्गदशा है—यह जिज्ञासुओं को लक्ष्यगत करना चाहिए। अहा! निर्विकल्प अनुभव का पूरा कथन करने की वाणी

www.vitragvani.com

में ताकत नहीं; ज्ञान में इसको जानने की ताकत है, अन्तर के वेदन में भी आता है, परन्तु वाणी में उसका पूरा कथन नहीं आता; ज्ञानी की वाणी में उसका संकेत आता है। अरे! जो विकल्प को भी गम्य नहीं हो सकता—ऐसा निर्विकल्प अनुभव, वाणी के द्वारा कैसे गम्य हो जाय? वह तो स्वानुभवगम्य है।

एक सज्जन शक्कर का मीठा स्वाद ले रहा हो, वहाँ कोई दूसरा मनुष्य जिज्ञासापूर्वक उस शक्कर खानेवाले को देखे, या उसके समीप शक्कर के मीठे स्वाद का वर्णन सुने, तो इतने से उसके मुँह में शक्कर का स्वाद नहीं आ जाता;वह स्वयं शक्कर की डली लेकर अपने मुँह में रखकर चूसे (आस्वादे), तभी उसकी शक्कर के मीठे स्वाद का अनुभव होता है। वैसे कोई 'सज्जन' अर्थात् सन्त-धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि, निर्विकल्प-स्वानुभव में अतीन्द्रिय -आनन्द का मीठा स्वाद ले रहा हो, वहाँ दूसरा जीव जिज्ञासापूर्वक उस अनुभवी धर्मात्मा को देखे, या उसके समीप प्रेमपूर्वक उस अनुभव का वर्णन सुने, तो उतने से उसको निर्विकल्प अनुभूति का स्वाद नहीं आ जाता; वह जीव स्वयं अपने शुद्धात्मा को लक्ष्य में लेकर, उसे ही मुख्य करके, जब अन्तर्मुख उपयोग के द्वारा स्वानुभव करे, तभी उसको शुद्धात्मा के निर्विकल्प अनुभव के अतीन्द्रिय -आनन्द का मीठा स्वाद वेदन में आता है।

—ऐसा स्वानुभव होने पर सम्यग्दृष्टि जानता है कि अहो! मेरी वस्तु मुझे प्राप्त हुई। मेरे में ही विद्यमान मेरी वस्तु को मैं भूल गया था, वह धर्मात्मा गुरुओं के प्रसाद से मुझे प्राप्त हुई। अपनी वस्तु अपने में ही है, वह निजध्यान में प्राप्त होती है; बाहर के किसी रागादिभाव से वह प्राप्त नहीं होती, अर्थात् अनुभव में नहीं आती।

www.vitragvani.com

'सविकल्प के द्वारा निर्विकल्प में आया'—ऐसा उपचार से कहा जाता है। स्वरूप के अनुभव का उद्यम करने में, प्रथम उसकी सविकल्प विचारधारा चलती है, उसमें सूक्ष्म राग व विकल्प भी होते हैं, परन्तु उस राग को या विकल्प को साधन बनाकर स्वानुभव में नहीं पहुँचा जाता। राग और विकल्पों का उल्लंघन करके, सीधा आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेकर उसे ही साधन बनावें, तभी आत्मा का निर्विकल्प स्वानुभव होता है और तभी जीव कृतकृत्य होता है। शास्त्रों ने इसका अपार माहात्म्य किया है। स्वानुभूति को आत्मा का सर्वस्व कहा है। ●

www.vitragvani.com

निर्विकल्प अनुभव के समय की स्थिति का वर्णन

समयसार, गाथा 144 में विकल्पों से पार ज्ञानस्वभाव का अपूर्व निर्विकल्प अनुभव होने के समय का रोमाञ्चकारी वर्णन किया है। अनुभूति का मार्ग एकदम खोल दिया है।

जो ज्ञान, पाँच इन्द्रियाँ और छठवें मन द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान सर्व ओर से सिमटकर निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूप -सन्मुख हुआ क्योंकि वह ज्ञान, क्षयोपशमरूप है, वह एक काल में एक ज्ञेय को ही जान सकता है। अब वह ज्ञान, स्वरूप जानने को प्रवर्तित हुआ, तब अन्य को जानना सहज ही बन्द हुआ, वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादिक विकार होने पर भी स्वरूप-ध्यानी को उनकी कोई खबर नहीं। इस प्रकार मतिज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ।

साधक को निर्विकल्प अनुभव में मति-श्रुतज्ञान काम करते हैं। मति-श्रुतज्ञान, वे क्षयोपशमभावरूप हैं; इसलिए एक समय में एक ज्ञेय को ही जानने में वे प्रवर्तते हैं; या स्व को जानने में उपयोग हो और या पर को जानने में उपयोग हो। केवलज्ञान में तो स्व-पर सबको एकसाथ जानने की पूर्ण सामर्थ्य प्रगट हो गयी है परन्तु इस ज्ञान में अभी ऐसा सामर्थ्य विकसित नहीं हुई है; इसलिए जब स्व को जानने में उपयोग हो, तब पर को जानने में उपयोग नहीं होता और जब पर को जानने में उपयोग हो, तब स्व को जानने में उपयोग नहीं होता। स्व को जानने में उपयोग न हो, इसलिए कहीं अज्ञान नहीं हो जाता क्योंकि स्वसंवेदन के समय जो ज्ञान हुआ है, वह लब्धरूप से तो वर्तता ही है।

www.vitragvani.com

क्षयोपशमज्ञान की शक्ति ही इतनी मन्द है कि एक समय में एक ओर ही उसकी प्रवृत्ति होती है, इसलिए या स्व को जानने में प्रवर्ते या पर को जानने में प्रवर्ते। अपने में तो ज्ञान के साथ आनन्द, प्रतीति इत्यादि समस्त गुणों का जो निर्मल परिणमन अभेद वर्तता है, उसे (अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा को) तन्मयरूप से जानता है। स्व को जानते समय आनन्दधारा में उपयोग तन्मय हुआ है, इसलिए विशिष्ट आनन्द उस निर्विकल्पदशा में वेदन में आता है।

धर्मी सबसे भिन्न का भिन्न ही रहता है। बाहर से देखनेवाले को दूसरों जैसा समान लगता है कि हम भी शुभ-अशुभ करते हैं और हमारी तरह यह धर्मी भी शुभाशुभ कर रहे हैं—परन्तु भाई! उनकी परिणति अन्दर में राग से कोई भिन्न ही काम कर रही है। उनकी प्रतीति में, उनके ज्ञान में स्व-ज्ञेय कभी विस्मृत नहीं होता,—उपयोग भले बाहर में कदाचित विषय-कषायों में या युद्ध इत्यादि में भी हो, उसी समय उनके अन्तर में श्रद्धा और ज्ञान की निर्मल गंगा का जो सम्यक् प्रवाह बह रहा है, वह यहाँ बताना है। ज्ञानगंगा का वह सम्यक् प्रवाह, समस्त विकार को धो डालेगा और केवलज्ञान समुद्र में जाकर मिलेगा।

—ऐसे धर्मी को जिस समय स्वज्ञेय में उपयोग हो, उस समय की यह बात चलती है। अहा! निर्विकल्प अनुभव में चैतन्य गोला जगत से ऐसा भिन्न अनुभव में आता है कि बाहर में क्या हो रहा है, उसका लक्ष्य नहीं; देह का क्या होता है, अरे! देह है या नहीं-इसका भी लक्ष्य नहीं है; आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द में ही मग्न है। ऐसी स्थिति चौथे गुणस्थान में गृहस्थ श्रावक को भी होती है। जो ऐसे आत्मस्वरूप को साधने निकला, उसे जगत का कोई संयोग

www.vitragvani.com

विचलित नहीं कर सकता—प्रतिकूल या अनुकूल कोई संयोग उसे डिगा नहीं सकता। जहाँ जगत से भिन्न ही चैतन्य गोला अनुभव में लिया, वहाँ पर का असर कैसा ? और परभाव भी कैसे ? परभाव, परभावों में हैं; मेरे चैतन्य गोले में परभाव नहीं है। अहा ! ऐसा वेदन सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को होता है।

ज्ञानस्वभाव के सम्यक् निर्णय के जोर से मति-श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख झुकाने पर ऐसा स्वानुभव होता है। इस अनुभव में भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है। समयसार, गाथा-144 में इसका अलौकिक वर्णन किया है। वहाँ कहते हैं कि —प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके... (यहाँ तक अभी सविकल्पदशा है... परन्तु ज्ञान का झुकाव तो ज्ञानस्वभाव की ओर ढल रहा है)। पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये अर्थात् अनुभव के लिये; परपदार्थों की प्रसिद्धि के कारण जो इन्द्रिय द्वारा और मन द्वारा प्रवर्तित बुद्धियाँ, उस बुद्धि को मर्यादा में लाकर मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया तथा अनेक प्रकार के नवतत्त्व के विकल्प से आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख किया; इस प्रकार मति-श्रुतज्ञान को पर की ओर से विमुख करके आत्मस्वभाव में झुकाने से तुरन्त ही अत्यन्त विकल्परहित होकर आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को अनुभव करता है, उसमें आत्मा सम्यक्रूप से दिखाई देता है और ज्ञात होता है; इसलिए वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। इस अनुभव को 'पक्षातिक्रान्त' कहा है, क्योंकि उसमें नयपक्ष के कोई विकल्प नहीं है। ऐसा अनुभव करे, तब जीव को सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है।

www.vitragvani.com

देखो! स्वानुभूति में मति-श्रुतज्ञान को अतीन्द्रिय कहा। स्वानुभव के समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों स्वरूपसन्मुख ही हुए हैं; इसलिए इन्द्रियातीत हुए हैं। इन्द्रियों का या मन का अवलम्बन उनमें नहीं है; इसलिए उस अनुभव को अतीन्द्रिय कहते हैं। मन का अवलम्बन नहीं, इसलिए राग का भी अवलम्बन नहीं, यह बात उसमें आ ही गयी। राग में तो मन का अवलम्बन है। राग के (व्यवहार के) अवलम्बन से निश्चय-स्वानुभव प्राप्त होगा-ऐसा जो मानता है, उसे मन के अवलम्बनरहित अतीन्द्रिय स्वानुभव कैसा है?—इसकी खबर नहीं है; इसलिए वह तो राग का और मन का अवलम्बन छोड़कर आगे ही नहीं बढ़ता। उसे अतीन्द्रियज्ञान या अतीन्द्रियसुख नहीं होता।

अहा! इस स्वसन्मुख मति-श्रुतज्ञान की महिमा का क्या कहना? जिसने विकल्प से पार होकर सम्पूर्ण आत्मा को सीधे स्वज्ञेय बनाया, वह तो केवलज्ञान का साधक है। सम्यग्दृष्टि के (चौथे गुणस्थान के भी) स्वानुभव को अतीन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि उसमें इन्द्रियों का या मन का व्यापार नहीं है। इन्द्रियाँ तथा मन का व्यापार तो परसन्मुख होता है, स्वरूप में उपयोग के समय परसन्मुख का व्यापार नहीं है। इन्द्रियाँ और मन का ऐसा स्वभाव नहीं कि स्वानुभव में मददरूप हों। स्वानुभव है, उतने अंश में इन्द्रिय तथा मन का अवलम्बन छूटा है और ज्ञान, अतीन्द्रिय हुआ है। यदि इतना अतीन्द्रियपना न हो और इन्द्रिय का अवलम्बन ही रहे, तब तो आत्मा अकेले इन्द्रियज्ञान का विषय हो जाये—परन्तु ऐसा नहीं होता। प्रवचनसार में स्पष्ट कहा है कि 'आत्मा अलिंगग्राह्य' है, लिङ्ग से अर्थात् इन्द्रियों द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, इन्द्रियों द्वारा

www.vitragvani.com

वह ज्ञात नहीं होता; इसलिए स्वानुभव से आत्मा को जाननेवाला ज्ञान, अतीन्द्रिय है। अतीन्द्रियज्ञान हो, वहीं अतीन्द्रियसुख होता है।

—मति-श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रिय!!

—हाँ भाई! उस मति-श्रुतज्ञान की ही यह बात है। यह कहीं केवलज्ञान की बात नहीं है। ठेठ बारहवें गुणस्थान तक स्वानुभव का कार्य तो मति-श्रुतज्ञान से ही होता है। किसी को अवधि-मन:पर्ययज्ञान खिला हो, तथापि निर्विकल्पध्यान के समय वह एक ओर रह जाता है, उसका उपयोग नहीं होता। मति-श्रुतज्ञान स्वानुभव के समय स्व में ऐसे एकाकार परिणमित हो जाते हैं कि मैं ज्ञाता हूँ और शुद्धात्मा मेरा स्वज्ञेय है-ऐसे ज्ञाता-ज्ञेय के भेद का विचार भी वहाँ नहीं रहता; वहाँ तो द्रव्य-पर्याय (ध्येय और ध्याता अथवा ज्ञेय और ज्ञान) एकरस होकर अनुभव में आते हैं। उस अनुभव की महिमा, वाणी और विकल्प से पार है। अपने स्वसंवेदन बिना मात्र वाणी या विकल्प से उसका वास्तविक ख्याल नहीं आता। इसलिए समयसार में आचार्यदेव ने विशेष प्रेरणा दी है कि निज वैभव से मैं जिस शुद्ध आत्मा को दर्शाता हूँ, वह तुम तुम्हारे स्वानुभव से प्रमाण करना।

अहा! अध्यात्मरस की ऐसी बात! इसकी विचारधारा, इसका निर्णय और इसका अनुभव, यही करनेयोग्य है। इसके लिये सतत् अभ्यास चाहिए। सत्समागम से श्रवण करके, मनन करके, एकान्त में स्थिरचित्त से इसका अभ्यास करना चाहिए। इस मनुष्यभव में वस्तुत: करनेयोग्य यही है और अभी सही अवसर है-**सब अवसर आ चुका है।** ●

www.vitragvani.com

स्वानुभूति का रंग चढ़ जाये-ऐसी बात

प्रत्यक्ष-परोक्षपना ज्ञान में है, सम्यक्त्व में नहीं

प्रत्यक्ष-परोक्षपने सम्बन्धी भेद सम्यक्त्व में नहीं है। सम्यक्त्व तो शुद्ध आत्मा की प्रतीतिरूप है। वह प्रतीति, सिद्ध भगवान को या तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि को समान ही है। सिद्ध भगवान को सम्यक्त्व में जैसे शुद्धात्मा की प्रतीति है, वैसे ही शुद्धात्मा की प्रतीति चौथे गुणस्थानवाले समकिती को भी है। उसमें कोई अन्तर नहीं है। सिद्ध भगवान का सम्यक्त्व, प्रत्यक्ष और चौथे गुणस्थानवाले का परोक्ष—ऐसा भेद नहीं है; अथवा स्वानुभव के समय सम्यक्त्व, प्रत्यक्ष और बाहर शुभाशुभ में उपयोग हो, तब सम्यक्त्व, परोक्ष-ऐसा भी नहीं है। शुभाशुभ में प्रवर्तता हो तब, या स्वानुभव से शुद्धोपयोग में प्रवर्तता हो तब भी, सम्यग्दृष्टि को सम्यक्त्व तो ऐसा का ऐसा है, अर्थात् शुभाशुभ के समय सम्यक्त्व में कोई मलिनता आ गयी और स्वानुभव के समय सम्यक्त्व में कोई निर्मलता बढ़ गयी-ऐसा नहीं है।

अहो! देखो, यह सम्यग्दर्शन की और स्वानुभव की चर्चा! यह मूलभूत वस्तु है। स्वानुभव क्या चीज़ है ?—इसकी पहिचान भी जीवों को आनन्दप्रदायक है। पहले वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करे—जीव क्या, अजीव क्या, स्वभाव क्या, परभाव क्या ?—यह भलीभाँति पहिचान कर, फिर मति-श्रुतज्ञान को अन्तर में झुकाकर स्वद्रव्य में परिणाम को एकाग्र करने से सम्यग्दर्शन और स्वानुभव होता है। ऐसा अनुभव करे, तब ही मोह की गाँठ टूटती है और तब ही जीव, भगवान के मार्ग में आता है... अहा! उसे जो आनन्द और शान्ति होती है, उसकी क्या बात!

www.vitragvani.com

भाई! यह तो सर्वज्ञ का निर्ग्रन्थमार्ग है। यदि तूने स्वानुभव द्वारा मिथ्यात्व की गाँठ नहीं तोड़ी तो निर्ग्रन्थमार्ग में किस प्रकार आया? यदि जन्म-मरण की गाँठ नहीं तोड़ी तो निर्ग्रन्थमार्ग में जन्मकर तूने क्या किया? भाई! ऐसा अवसर मिला तो ऐसा उद्यम कर कि जिससे तुझे अपूर्व शान्ति मिले, तेरे जन्म-मरण टलें और अल्प काल में मुक्ति हो।

इसमें सम्यग्दर्शन का स्वरूप और वह प्रगट करने की विधि भी साथ ही आ जाती है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसे क्या करना? सम्यग्दर्शन को कहाँ खोजना?

1- पर में खोजे तो सम्यग्दर्शन मिले, ऐसा नहीं है।

2- देहादि की क्रिया में या शुभराग में भी सम्यग्दर्शन मिले, ऐसा नहीं है।

3- सम्यग्दर्शन तो आत्मा का ही भाव है, इसलिए आत्मा में से ही वह मिलता है।

4- आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, अन्तर्मुख होकर उसकी निर्विकल्प प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है।

5- वह सम्यग्दर्शन, मन और इन्द्रियों से पार निर्विकल्प आत्मप्रतीतिरूप है।

6- वह सम्यग्दर्शन, स्व में उपयोग के समय या पर में उपयोग के समय एक समान वर्तता है।

7- प्रत्यक्ष और परोक्ष—ऐसे भेद सम्यग्दर्शन में नहीं हैं।

8- ज्ञान अन्तर्मुख होने पर आत्मा के निर्विकल्प आनन्द का

www.vitragvani.com

अनुभव होता है, उसके साथ 'यही मैं हूँ'-ऐसी सम्यक् आत्मप्रतीति होती है, वही सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प स्वानुभव में हुआ, परन्तु फिर विकल्प में आने पर वह सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। भ्रान्तिरहित सम्यक् आत्मप्रतीति धर्मी को सदा रहा करती है।

9- ऐसा सम्यग्दर्शन, वह मोक्ष का द्वार है; उसके द्वारा ही मोक्ष का मार्ग खुलता है। उसका उद्यम ही प्रत्येक मुमुक्षु का पहला काम है और प्रत्येक मुमुक्षु से वह हो सकने योग्य है।

❖ अहा! सन्तों ने सम्यग्दर्शन का स्वरूप बहुत स्पष्ट बताया है। यह बात ऐसी सरस है कि यदि समझे तो अन्दर में जीव को स्वानुभूति का रङ्ग चढ़ जाये और राग का रङ्ग उतर जाये। आत्मा की शुद्ध अनुभूति, राग के रंग से रहित है; जिसे ऐसी स्वानुभूति का रङ्ग नहीं, वह राग में रँग जाता है। हे जीव! एक बार आत्मा में से राग का रङ्ग उतारकर स्वानुभूति का रङ्ग चढ़ा।

जिसे एक बार भी स्वानुभूति से शुद्धात्मा की प्रतीति हुई अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ, पश्चात् उसे स्वानुभव में हो, तब प्रतीति का जोर बढ़ जाये और बाहर शुभाशुभ में आवे, तब प्रतीति शिथिल पड़ जाये—ऐसा नहीं है और निर्विकल्पदशा के समय सम्यक्त्व, प्रत्यक्ष और सविकल्पदशा के समय सम्यक्त्व, परोक्ष—ऐसा प्रत्यक्ष-परोक्षपना सम्यक्त्व में नहीं है। अथवा निर्विकल्पदशा के समय निश्चयसम्यक्त्व और सविकल्पदशा के समय अकेला व्यवहारसम्यक्त्व - ऐसा भी नहीं है। धर्मी को सविकल्पदशा हो या निर्विकल्पदशा हो-दोनों समय शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो अविच्छिन्नरूप से वर्त ही रहा है। यदि

www.vitragvani.com

निश्चयसम्यक्त्व न हो तो साधकपना ही नहीं रहता, मोक्षमार्ग ही नहीं रहता। फिर निश्चयसम्यक्त्व में भले किसी को औपशमिक हो, किसी को क्षायोपशमिक हो और किसी को क्षायिक हो; शुद्धात्मा की प्रतीति तो तीनों में समान है।

क्षायिकसम्यक्त्व तो सर्वथा निर्मल है; औपशमिकसम्यक्त्व भी वर्तमान में तो क्षायिक जैसा ही निर्मल है, परन्तु उस जीव को नितरे हुए पानी की तरह तल में से (सत्ता में से) अभी मिथ्यात्व की प्रकृति का नाश नहीं हुआ है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक्त्व को बाधा न पहुँचावे,—ऐसा सम्यक्-मोहनीयप्रकृति सम्बन्धी विकार है। तीनों प्रकार के समकित में शुद्ध आत्मा की प्रतीति वर्तती है। प्रतीति की अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि को सिद्धसमान कहा है।

प्रश्न : चौथे गुणस्थानवाले क्षायिकसम्यग्दृष्टि की प्रतीति तो सिद्धभगवान जैसी होती है, परन्तु उपशमसम्यग्दृष्टि की प्रतीति भी क्या सिद्धभगवान जैसी है ?

उत्तर : हाँ; उपशम समकिती की प्रतीति में जो शुद्धात्मा आया है, वह भी जैसा सिद्ध की प्रतीति में आया है, वैसा ही है। शुद्ध आत्मा की प्रतीति तो तीनों समकिती की समान ही है, उसमें कोई अन्तर नहीं है। ●

www.vitragvani.com

स्वानुभवज्ञान और उस समय के विशिष्ट आनन्द का वर्णन

जो ज्ञान, आत्मा को जाने, वह प्रत्यक्ष और पर को जाने, वह परोक्ष – ऐसी व्याख्या नहीं है। क्योंकि मति-श्रुतज्ञान, आत्मा को जानते हैं, तथापि उन्हें परोक्ष गिना है और अवधि-मन:पर्ययज्ञान पर को जानते हैं, तथापि उन्हें प्रत्यक्ष कहा है। जो ज्ञान स्पष्ट हो और सीधे आत्मा से हो, उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और जो अस्पष्ट हो, जिसमें इन्द्रियादि पर का कुछ अवलम्बन हो, उसे परोक्ष कहते हैं। अब मति-श्रुतज्ञान जब स्वसन्मुख होकर स्वानुभव में वर्तते हैं, तब उनमें से इन्द्रिय-मन का जितना अवलम्बन छूटा है, उतना तो प्रत्यक्षपना है, उसमें जो स्वानुभव हुआ, वह अकेले आत्मा से ही हुआ है, दूसरे किसी का उसमें अवलम्बन नहीं है और वह स्वानुभव स्पष्ट है; इसलिए वह प्रत्यक्ष है। वह प्रत्यक्षपना अध्यात्मदृष्टिवाले को समझ में आता है।

अहा! मति-श्रुतज्ञान, इन्द्रिय और मन के बिना जाने!... भाई! जानने का स्वभाव तो आत्मा का है न! आत्मा स्वयं अपने को मन और इन्द्रिय बिना ही जानता है। प्रवचनसार की १७२ वीं गाथा में अलिंगग्रहण के बीस अर्थ करते हुए आचार्यदेव ने स्पष्ट किया है कि आत्मा अकेले अनुमान द्वारा या अकेले इन्द्रिय-मन द्वारा नहीं जानता; इसलिए अकेले परोक्षज्ञान द्वारा वह ज्ञात नहीं होता। इन्द्रियजन्य मति-श्रुतज्ञान को सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहा है, वह पर को जानने की अपेक्षा से; स्व को जानने में तो वे ज्ञान, इन्द्रियातीत स्वानुभव-प्रत्यक्ष हैं। यह स्वानुभव-प्रत्यक्षपना अध्यात्मशैली में

www.vitragvani.com

है। इसलिए आगम की शैली में प्रत्यक्ष-परोक्ष के जो भेद आवें, उनमें इसका कथन नहीं आयेगा। समयसार में कहते हैं कि मैं मेरे समस्त निजवैभव से शुद्धात्मा दिखाता हूँ, उसे स्वानुभव-प्रत्यक्ष से प्रमाण करना-तो वहाँ श्रोता तो मति-श्रुतज्ञानवाले ही हैं और उन्हें ही मति-श्रुतज्ञान द्वारा स्वानुभव-प्रत्यक्ष करने को कहा है। यदि स्वानुभव में मति-श्रुत प्रत्यक्ष न होते तो ऐसा कैसे कहते?

यहाँ कहते हैं कि जिज्ञासु को ऐसा स्वानुभव करने से पहले आगम द्वारा तथा अनुमान इत्यादि द्वारा आत्मा का यथार्थस्वरूप निश्चित किया है, पश्चात् उसमें परिणाम लीन करके स्वानुभव करता है।

आगम में, अरिहन्त के आत्मा का उदाहरण देकर आत्मा का शुद्धस्वभाव दिखलाया है। अरिहन्त का आत्मा, द्रव्य से-गुण से और पर्याय से जैसा चेतनामय शुद्ध है, वैसा ही आत्मा का स्वभाव है, अरिहन्त जैसा ही चेतनस्वभावी यह आत्मा है। अरिहन्त के आत्मा में शुभराग इत्यादि विकार नहीं, वैसे शुभराग इस आत्मा का भी स्वभाव नहीं। आगम में शुभराग को आत्मा का स्वभाव नहीं कहा, परन्तु परभाव कहा है, उसे अनात्मा और आस्रव कहा है। ऐसे अनेक प्रकार से आगम के ज्ञान से आत्मस्वरूप का निर्णय करना चाहिए।

तथा, अनुमान के विचार से भी वस्तुस्वरूप निश्चित करे। जैसे कि—

मैं आत्मा हूँ... मुझमें ज्ञान है।

जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है; और जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ ज्ञान भी है। जैसे कि सिद्धभगवान।

www.vitragvani.com

जहाँ-जहाँ आत्मा नहीं, वहाँ-वहाँ ज्ञान भी नहीं; और जहाँ -जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ-वहाँ आत्मा भी नहीं। जैसे कि अचेतनशरीर।

इस प्रकार आत्मा को और ज्ञान को परस्पर व्याप्तिपना है, अर्थात् एक हो, वहाँ दूसरा हो ही; और एक न हो, वहाँ दूसरा भी न हो - ऐसे परस्पर अविनाभावपने को समव्याप्ति कहते हैं।

'शरीर हो, वहाँ आत्मा होता है'- ऐसे सच्चा अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्धभगवान को शरीर न होने पर भी आत्मा है और मृतक कलेवर में शरीर होने पर भी आत्मा नहीं है; इसलिए शरीर को और जीव को व्याप्ति नहीं है।

शरीर के बिना आत्मा होता है परन्तु ज्ञान के बिना आत्मा कभी नहीं होता; इसलिए ज्ञान, वह आत्मा का स्वरूप है, परन्तु शरीर तो आत्मा से भिन्न है। इसी प्रकार शरीर की तरह राग-द्वेष के बिना भी आत्मा होता है; इसलिए राग-द्वेष भी वास्तव में आत्मा का स्वरूप नहीं है - ऐसे अनेक प्रकार से युक्ति से विचारकर आत्मा का स्वरूप निर्णय करना, उसे अनुमान कहते हैं।

मैं आत्मा हूँ क्योंकि मुझमें ज्ञान है और मैं ज्ञान से जानता हूँ।

शरीर, वह आत्मा नहीं क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं, वह कुछ जानता नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा कभी नहीं होता।

तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ज्ञान कभी नहीं होता।

शुद्धनय से मैं शुद्ध सिद्धसमान हूँ; अशुद्धनय से मुझमें अशुद्धता

www.vitragvani.com

भी है। शुद्धनय का आश्रय करके शुद्धात्मा का अनुभव करने से, पर्याय में से अशुद्धता टलकर शुद्धता प्रगट होती है।

इस प्रकार अनुमान और नय-प्रमाण इत्यादि के विचार तत्त्व -निर्णय के काल में होते हैं परन्तु अकेले इन विचारों से ही कहीं स्वानुभव नहीं होता; वस्तुस्वरूप निश्चित करके, फिर जब स्वद्रव्य में परिणाम को एकाग्र करे, तभी स्वानुभव होता है और उस स्वानुभव के काल में नय-प्रमाण इत्यादि के विचार नहीं होते। नय-प्रमाण इत्यादि के विचार तो परोक्षज्ञान है और स्वानुभव तो कथञ्चित् प्रत्यक्ष है। आगम, अनुमान इत्यादि परोक्षज्ञान से जो स्वरूप, विचार में लिया, उसमें परिणाम एकाग्र होने पर वह स्वानुभव -प्रत्यक्ष होता है। ज्ञानी ने इस स्वानुभव में पहले की अपेक्षा कोई दूसरा स्वरूप जाना-ऐसा नहीं है, अर्थात् ज्ञानी को स्वानुभव में जानपने की अपेक्षा से विशेषता नहीं, परन्तु परिणाम की मग्नता है-वह विशेषता है।

आत्मा के अनुभव का स्मरण करके, फिर उसमें परिणाम लगाता है।—परन्तु ऐसा स्मरण किसे होता है? कि पहले एक बार जिसने अनुभव द्वारा स्वरूप जाना हो, उसकी धारणा टिका रखी हो, वह फिर से उसका स्मरण करे। 'पहले आत्मा का अनुभव हुआ, तब ऐसा आनन्द था... ऐसी शान्ति थी, ऐसा ज्ञान था... ऐसा वैराग्यभाव था... ऐसी एकाग्रता थी... ऐसा प्रयत्न था'... ऐसे उसके स्मरण द्वारा चित्त को एकाग्र करके, धर्मी जीव फिर से उसमें अपने परिणाम को जोड़ता है। स्वानुभव के समय कोई ऐसे स्मरण इत्यादि के विचार नहीं होते, परन्तु पहले ऐसे विचारों द्वारा चित्त को एकाग्र करता है; इसलिए ऐसे प्रकार के स्मृति-अनुमान

www.vitragvani.com

-आगम इत्यादि पूर्वक (पश्चात् वे विचार छूटकर) स्वानुभव होता है; विचार के समय जो मति-श्रुतज्ञान थे, वे ही मति-श्रुतज्ञान विकल्प छूटकर स्वानुभव में आये; इसलिए स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञान है - ऐसा यहाँ बताया है। मति-श्रुतज्ञान ने आत्मा का जो स्वरूप जाना, उसमें ही वह मग्न होता है; उसमें जानपने की अपेक्षा से अन्तर नहीं परन्तु परिणाम की मग्नता की अपेक्षा से अन्तर है।

जब मति-श्रुतज्ञान अन्तर में उपयोग लगाकर स्वानुभव करते हैं, तब उस निर्विकल्पदशा में कोई अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है। जानपने की अपेक्षा भले वहाँ विशेषता न हो, परन्तु आनन्द का अनुभव इत्यादि की अपेक्षा से उसमें विशेषता है।

धर्मी जीव, सविकल्पदशा के समय आत्मा का जो स्वरूप जानते थे, वही निर्विकल्पदशा के समय जानते हैं; निर्विकल्पदशा में कुछ विशेष प्रकार जाने-ऐसी विशेषता नहीं है, तथापि सविकल्प की अपेक्षा निर्विकल्पदशा की बहुत महिमा करते हो तो उसका क्या कारण ? उसमें ऐसी कौन सी विशेषता है कि इतनी अधिक स्वानुभव की महिमा शास्त्रों में गायी है ? वह यहाँ बताते हैं।

भाई ! स्वानुभव के समय ज्ञान-उपयोग अपने शुद्धात्मा को ही स्वज्ञेय करके उसमें स्थिर हो गया है। पहले उपयोग बाहर के अनेक ज्ञेयों में और विकल्पों में भ्रमता था; वह मिटकर उपयोग अपने स्वरूप को-एक को ही जानने में एकाग्र हुआ—एक तो यह विशेषता हुई; और दूसरी विशेषता यह हुई कि पहले सविकल्पदशा के समय अनेक प्रकार के राग-द्वेष-शुभाशुभपरिणाम होने पर, स्वानुभव के समय शुद्धोपयोग होने पर बुद्धिपूर्वक के समस्त

www.vitragvani.com

रागादि परिणाम छूट गये; केवल निजस्वरूप में ही तन्मय परिणाम हुए। ऐसी विशेषता के कारण स्वानुभवकाल में सिद्ध भगवान जैसा अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनन्द विशेष अनुभव में आता है।

स्वानुभूति का सुख वचनातीत है। जगत् के किसी पदार्थ में उस सुख का अंश भी नहीं है। इन्द्रियजनित सुख की अपेक्षा इस सुख की जाति ही अलग है; यह तो आत्मजनित सुख है, आत्मा के स्वभाव में से उत्पन्न हुआ है। जिसने एक बार उपयोग को अन्तर में जोड़कर स्वानुभूति का ऐसा अपूर्व सुख चख लिया है- ऐसे धर्मी को, जितनी वीतरागता हुई है, उतना आत्मिकसुख तो सविकल्पदशा के समय भी वर्तता है, परन्तु निर्विकल्पदशा के समय उपयोग, निजस्वरूप में तन्मय होकर जो अतीन्द्रिय परम आनन्द का वेदन करता है, उसकी कोई विशिष्ट विशेषता है।

अहा! स्वानुभव का आनन्द क्या है? इसकी कल्पना भी अज्ञानी को नहीं आती। जिसने अतीन्द्रिय चैतन्य को कभी देखा नहीं, जिसने इन्द्रिय विषयों में ही आनन्द माना है, उसे स्वानुभव के अतीन्द्रिय आनन्द की गन्ध भी कहाँ से होगी? अरे! ऐसे स्वानुभव की चर्चा भी जीव को दुर्लभ है। जिसने ज्ञान को बाह्य इन्द्रिय-विषयों में ही भ्रमाया है, ज्ञान को अन्दर झुकाकार अतीन्द्रिय वस्तु को कभी लक्ष्यगत नहीं किया, उसे उस अतीन्द्रिय वस्तु के अतीन्द्रियसुख की कल्पना भी कहाँ से आयेगी? नीम को खानेवाली गिलहरी आम का स्वाद कैसे जानेगी? इसी प्रकार इन्द्रियज्ञान में ही लुब्ध प्राणी, अतीन्द्रियसुख के स्वाद को कैसे जानेंगे? ज्ञानी ने चैतन्य के अतीन्द्रियसुख को जाना है; उसका अपूर्व स्वाद चखा

www.vitragvani.com

है, वह सुख उसे निरन्तर वर्तता है; तदुपरान्त यहाँ तो निर्विकल्पदशा में उसे आनन्द की जो विशेषता है, उसकी बात है।

शङ्का : हम तो गृहस्थ; गृहस्थ को ऐसी स्वानुभव की बात कैसे समझ में आये?

समाधान : भाई! स्वानुभव की यह चिट्ठी लिखनेवाले (पण्डित टोडरमलजी) स्वयं भी गृहस्थ ही थे और जिन्हें चिट्ठी लिखी है, वे भी गृहस्थ ही थे; इसलिए गृहस्थों को समझ में आ सके, ऐसी यह बात है। आत्मा का सत्य ज्ञान तो गृहस्थ को भी हो सकता है। मुनिराज जैसी स्वरूप स्थिरता गृहस्थ को नहीं होती परन्तु आत्मा का ज्ञान तो मुनिदशा जैसा ही गृहस्थदशा में भी हो सकता है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता और ऐसा आत्मज्ञान करे, उसी गृहस्थ को धन्य कहा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य तो कहते हैं कि हे श्रावक! तू निर्मल सम्यक्त्व को ग्रहण करके, निरन्तर उसे ही ध्यान में ध्या। ऐसा सम्यक्त्व गृहस्थ को हो सकता है, तभी तो ऐसा कहा है न? इसलिए सच्ची जिज्ञासा प्रगट करके समझना चाहे, उसे स्वानुभव की बात अवश्य समझ में आती है। यह तो सूक्ष्म लगे, परन्तु यह समझने से ही आत्मा का कल्याण है; इसलिए आत्मा के सम्यक्त्व की और स्वानुभव की यह बात भलीभाँति समझनेयोग्य है।

प्रश्न : यह समझकर फिर क्या करना? चौबीस घण्टे का कार्यक्रम क्या?

उत्तर : भाई! धर्मात्मा का चौबीसों घण्टे का यही कार्यक्रम है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का सेवन करना और

www.vitragvani.com

परभाव का सेवन छोड़ना। चौबीस घण्टे में प्रतिक्षण धर्मात्मा यह स्वभाव सेवन का कार्य कर रहे हैं। अज्ञानी चौबीसों घण्टे प्रतिक्षण परभाव के सेवन का कार्य कर रहे हैं। बाहर के काम तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई एक क्षण भी नहीं करता।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् धर्मी को उपयोग कभी स्व में होता है और कभी पर में होता है; निरन्तर स्व में उपयोग नहीं रहता परन्तु सम्यक्त्व निरन्तर रहता है। वह सम्यक्त्व, स्व-उपयोग के समय प्रत्यक्ष और पर-उपयोग के समय परोक्ष-ऐसे भेद उसमें नहीं हैं; अथवा स्वानुभव के समय वह उपयोगरूप और परलक्ष्य के समय वह लब्धरूप—ऐसा भेद भी सम्यक्त्व में नहीं है। सम्यक्त्व में तो औपशमिक इत्यादि प्रकार हैं और वे तीनों ही प्रकार सविकल्पदशा के समय भी होते हैं। सम्यग्दर्शन हुआ, उतनी शुद्धपरिणति तो शुभ-अशुभ के समय भी धर्मी को वर्तती ही है।

सम्यग्दर्शन हो, इसलिए वह जीव सदा निर्विकल्प अनुभूति में ही रहे-ऐसा नहीं है। उसे शुद्धात्म-प्रतीति सदा रहे, वह विकल्परहित होती है परन्तु अनुभूति तो कभी होती है। मुनि को भी निर्विकल्प अनुभूति धारावाही नहीं रहती; धारावाही दीर्घकाल तक निर्विकल्पता रहे तो केवलज्ञान हो जाये।

स्वानुभूति, वह ज्ञान की स्व-उपयोगरूप पर्याय है; सम्यग्दर्शन को उस उपयोगरूप अनुभूति के साथ विषमव्याप्ति है, अर्थात् एक पक्ष के ओर की व्याप्ति है। जैसे केवलदर्शन और केवलज्ञान को अथवा तो आत्मा को और ज्ञान को तो समव्याप्ति है—अर्थात् जहाँ इनमें से एक होगा, वहाँ दूसरा भी होगा ही; और एक न हो, वहाँ दूसरा भी नहीं होगा—ऐसे दोनों में परस्पर अविनाभावीपना है, उसे

www.vitragvani.com

समव्याप्ति कहते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन को और निर्विकल्प स्वानुभूति को ऐसा समव्याप्तिपना नहीं परन्तु विषमव्याप्ति (एक पक्ष की ओर का अविनाभावपना) है, अर्थात् कि —

❖ जहाँ निर्विकल्प अनुभूति हो, वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है और जहाँ सम्यग्दर्शन न हो, वहाँ स्वानुभूति होती ही नहीं-ऐसा नियम है। परन्तु—

❖ जहाँ सम्यग्दर्शन हो, वहाँ अनुभूति सदा होती ही है और जहाँ अनुभूति न हो, वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही नहीं - ऐसा कोई नियम नहीं है।

❖ जहाँ सम्यग्दर्शन हो, वहाँ निर्विकल्प स्वानुभूति वर्तती हो या न भी वर्तती हो और जहाँ निर्विकल्प स्वानुभूति न हो, वहाँ सम्यक्त्व न हो अथवा हो भी सही।

❖ सम्यग्दर्शन प्रगट होने के काल में तो निर्विकल्प स्वानुभूति होती ही है, यह नियम है। तत्पश्चात् के काल में समकिती को वह अनुभूति किसी समय होती है, किसी समय नहीं भी होती परन्तु शुद्धात्मप्रतीति तो सदैव होती ही है। जब उपयोग को अन्दर रोककर निर्विकल्प स्वानुभव में परिणाम को मग्न करे, तब उसे कोई विशिष्ट आनन्द का वेदन होता है।

चौथे गुणस्थान की शुरुआत ही ऐसे निर्विकल्प स्वानुभवपूर्वक होती है। सम्यग्दर्शन कहो, चौथा गुणस्थान कहो या धर्म की शुरुआत कहो। वह ऐसे स्वानुभव बिना नहीं होती। स्वानुभव को प्रत्यक्ष कहा, उसमें अतीन्द्रिय वचनातीत आनन्द कहा, उसमें कोई विकल्प नहीं, ऐसा कहा; इसलिए किसी को प्रश्न उठे कि ऐसा उत्कृष्ट-अतीन्द्रिय, प्रत्यक्ष स्वानुभव किसे होता होगा?

www.vitragvani.com

—तो कहते हैं कि ऐसा अनुभव चौथे गुणस्थान से ही होता है। ऐसी निर्विकल्प आनन्ददशा गृहस्थपने में रहे हुए सम्यग्दृष्टि को भी मति-श्रुतज्ञान द्वारा होती है। चौथे गुणस्थान में विशेष-विशेष काल के अन्तर से कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है। जब पहली बार चौथा गुणस्थान प्रगट हुआ, तब तो निर्विकल्प अनुभव हुआ ही था, परन्तु पश्चात् फिर ऐसा अनुभव अमुक विशेष काल के अन्तराल से होता है और फिर ऊपर-ऊपर के गुणस्थान में वैसा अनुभव बारम्बार होता है। पाँचवें गुणस्थान में चौथे की अपेक्षा अल्प-अल्प काल के अन्तर से अनुभव होता है; (चौथे गुणस्थानवाले किसी जीव को किसी समय तुरन्त ही ऐसा अनुभव हो, वह अलग बात है।) और छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि को तो बारम्बार अन्तर्मुहूर्त में ही नियम से विकल्प टूटकर स्वानुभव हुआ करता है। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में अधिक से अधिक कितने अन्तराल में स्वानुभव होता है-इस सम्बन्धी कोई निश्चित माप जानने में नहीं आता। छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि के लिये तो नियम है कि अन्तर्मुहूर्त में निर्विकल्प उपयोग होता ही है।

अहो, यह निर्विकल्पता तो अमृत है!

समस्त मुनियों को सविकल्प के समय छठवाँ और क्षण में निर्विकल्पध्यान होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है। जैसे सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प-स्वानुभवपूर्वक प्रगट होता है; उसी प्रकार मुनिदशा भी निर्विकल्पध्यान में ही प्रगट होती है। पहले ध्यान में सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और पश्चात् विकल्प उठने पर छठवें में आते हैं। मुनि को तो बारम्बार निर्विकल्पध्यान होता है। वे तो केवलज्ञान के एकदम निकट के पड़ोसी हैं। अहा! बारम्बार शुद्धोपयोग के आनन्द

www.vitragvani.com

में झूलते उन मुनि की अन्तर्दशा की क्या बात! अरे, सम्यग्दृष्टि श्रावक को भी ध्यान के समय तो मुनि जैसा गिना है। मैं श्रावक हूँ या मुनि हूँ–ऐसा कोई विकल्प ही उसे नहीं है; उसे तो ध्यान के समय आनन्द के वेदन में ही लीनता है। चौथे गुणस्थान में ऐसा अनुभव किसी समय होता है, पश्चात् जैसे-जैसे भूमिका बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे काल अपेक्षा से बारम्बार होता है और भाव अपेक्षा से लीनता बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्वानुभव की गुणस्थान-अनुसार विशेषता जानना।

जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे कषायें घटती जाती हैं और स्वरूप में लीनता बढ़ती जाती है। धर्मी को गुणस्थानानुसार जितनी शुद्धि और जितनी वीतरागता हुई, उतनी शुद्धि और वीतरागता तो परसन्मुख के उपयोग के समय भी टिकी रहती है और उतना तो बन्धन उन्हें होता ही नहीं। चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में हो, तथापि वहाँ अनन्तानुबन्धी के अतिरिक्त तीनों कषायों का अस्तित्व है और छठे गुणस्थान में शुभविकल्प में वर्तता हो, तथापि वहाँ अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं है, मात्र संज्वलन कषाय है; इसलिए स्वानुभूति में न हो, इससे उसे दूसरे की अपेक्षा अधिक कषायें हों -ऐसा नहीं है परन्तु इतना अवश्य है कि एक ही भूमिकावाले जीव, उस सविकल्पदशा में हों, उनकी अपेक्षा निर्विकल्पदशा के समय उन्हें कषायें बहुत ही मन्द हो जाती हैं और उतने ही प्रमाण में शान्ति का वेदन बढ़ जाता है।

चौथे गुणस्थान में स्त्री-पुत्रादिवाले श्रावक को, अरे! आठ वर्ष की बालिका को या तिर्यञ्च को भी उस निर्विकल्पदशा के समय

www.vitragvani.com

बुद्धिपूर्वक के सब राग-द्वेष छूट गये होते हैं, मात्र चैतन्य गोला-आनन्द के सागर से उल्लसित होता-देह से भिन्न अनुभव में आता है; इसलिए ऐसे ध्यान के समय तो श्रावक को भी मुनि के समान गिना है। उस ध्यान में ज्ञानादि की निर्मलता भी बढ़ती जाती है। परिणाम की स्थिरता भी बढ़ती जाती है, शान्ति बढ़ती जाती है।

ज्ञानी, संसार में गृहस्थपने में रहे हों, राग-द्वेष-क्रोधादि क्लेश -परिणाम अमुक होते हों, परन्तु उन्हें उनका काल विस्तृत नहीं होता; संसार के चाहे जैसे क्लेश प्रसङ्ग या प्रतिकूलता के प्रसङ्ग आवें, परन्तु जहाँ चैतन्यध्यान की स्फूरणा हुई, वहाँ वे सब क्लेश कहीं भाग जाते हैं; चाहे जैसे प्रसङ्ग में भी उसके श्रद्धा-ज्ञान घिर नहीं जाते। जहाँ चिदानन्द हंस का स्मरण किया, वहीं दुनिया के समस्त क्लेश दूर भाग जाते हैं तो उस चैतन्य के अनुभव में तो क्लेश कैसा? उसमें तो अकेला आनन्द है... अकेली आनन्द की धारा बहती है। इसलिए कहते हैं कि अरे जीवों! उस चैतन्यस्वरूप के चिन्तन में क्लेश तो जरा भी नहीं है और उसका फल महान है। उसके चिन्तवन में महान सुख की प्राप्ति होती है तो उसे ध्यान में क्यों चिन्तवन नहीं करते? और क्यों बाहर ही उपयोग को भ्रमाते हो? ज्ञानी को दूसरा सब भले दिखायी दे परन्तु अन्दर चैतन्य की जड़ी-बूटी हाथ में रखी है। वह संसार के जहर को उतार डालनेवाली जड़ी-बूटी है; उस जड़ी-बूटी को सूँघने से इसकी संसार की थकान क्षणभर में उतर जाती है।

जीव को शुद्धात्मा के चिन्तवन का अभ्यास करना चाहिए। जिसे चैतन्य के स्वानुभव का रङ्ग लगे, उसे संसार का रङ्ग उतर जाता है। भाई! तू अशुभ और शुभ दोनों से दूर हो, तब शुद्धात्मा का

www.vitragvani.com

चिन्तवन होगा। जिसे अभी पाप की तीव्र कषायों से भी निवृत्ति नहीं; देव-गुरु की भक्ति, बहुमान, साधर्मियों का प्रेम इत्यादि अत्यन्त मन्दकषाय की भूमिका में भी जो नहीं आया; वह अकषाय चैतन्य का निर्विकल्प ध्यान कहाँ से करेगा ? पहले समस्त कषाय का (शुभ अशुभ का) रङ्ग अन्दर से उड़ जाये... जहाँ उसका रङ्ग उड़ जाये, वहाँ उनकी अत्यन्त मन्दता तो सहज ही हो जाये और फिर चैतन्य का रङ्ग चढ़ने पर उसकी अनुभूति प्रगट होती है। वरना परिणाम को एकदम शान्त किये बिना ऐसा का ऐसा अनुभव करना चाहे तो नहीं होता। अहा! अनुभवी जीव की अन्दर की दशा कोई अलग होती है!

जब उपयोग स्वानुभव में जुड़ता है, तब निर्विकल्पदशा कहने में आती है, क्योंकि उस समय उपयोग का जुड़ान विकल्प में नहीं; उपयोग, निजस्वरूप में ही एकाग्र हुआ है। यद्यपि निर्विकल्प अनुभव के समय भी सरागी जीव को अन्दर अबुद्धिपूर्वक विकल्प तो हैं; राग का कार्य विकल्प है, वह वहाँ पड़ा है, परन्तु उपयोग उसमें नहीं है और वह ऐसा सूक्ष्म है कि वह अपने को और दूसरे स्थूल ज्ञानी को ख्याल में नहीं आ सकता। सामान्य छद्मस्थ को ख्याल में आवे, ऐसे स्थूल विकल्प वहाँ नहीं है; इसलिए वहाँ निर्विकल्पता ही कहने में आती है।

यह सम्यक्त्व की व स्वानुभव की बहुत अच्छी बात है-जिसे लक्ष्यगत करने से जन्म-मरण मिट जाये-ऐसी यह अलौकिक बात है। यह स्वानुभव-कला ही संसार-समुद्र से तिरने की कला है। अन्य सब पढ़ाई चाहे आती हो, चाहे न आती हो; इस स्वानुभव -कला को नहीं जाननेवाला अन्य अनेक कलाएँ जानता हो, तो भी

www.vitragvani.com

संसार समुद्र से तिर नहीं सकता; मोक्ष के लिये उसकी एक भी कला काल में नहीं आती और स्वानुभव की एक कला को जाननेवाला, अन्य कलायें कदाचित् न भी जानता हो तो भी अनुभव के बल से वह संसार को तिर जायेगा और मोक्ष को साधेगा। स्वानुभव के बल से उसे केवलज्ञान की ऐसी महाविद्या खिलेगी कि उसमें जगत की सभी विद्याओं का ज्ञान समा जायेगा।

अरे! आयु थोड़ी, बुद्धि अल्प और श्रुत का तो पार नहीं; इसमें हे जीव! तुझे वही सीखना योग्य है कि जिससे भव-समुद्र तिर जाये। दूसरी निष्प्रयोजन बातों को छोड़कर मूल प्रयोजनभूत इस बात को जान, कि जिसके जानने से आत्मा इस संसार-समुद्र को तिर जाये।

इसके सम्बन्ध में दृष्टान्त देते हैं:—

कोई विद्वान नौका में बैठकर जा रहे थे; बीच में नाविक से बातचीत करते हुए उन्होंने पूछा—

'क्यों भाई नाविक! तुम्हें सङ्गीत आता है?'

नाविक ने कहा — 'नहीं, भाई!'

थोड़ी देर बाद फिर पूछा— 'संस्कृत-व्याकरण आती है? ज्योतिष आती है? गणित आती है?'

नाविक ने कहा — 'नहीं जी, ये कुछ नहीं आते।'

अन्त में शास्त्रीजी ने पूछा—'भैया! कम से कम लिखना-पढ़ना तो आता ही होगा?'

नाविक ने कहा—'नहीं जी! हमारे तो बस यह नदी भली और

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

हमारी नौका भली.... हम तो सिर्फ यह जानते है कि पानी में कैसे तिरना!'

तब पण्डित जी बोले—'बस! तब तो नाविक भाई! तुम्हारी जिन्दगानी पानी में ही गयी। हम तो न्याय-कानून-संस्कृत-व्याकरण-संगीत-गणित-ज्योतिष आदि सब जानते हैं।'

नाविक ने कहा—'बहुत अच्छी बात, भैया! हमें इनसे क्या? हमें तो हमारी नौका से काम!'

अभी यह बात चल ही रही थी कि इतने में तेज पवन चलने लगी और नौका डाँवाडोल होकर पानी में बहने लगी तथा डूब जाने की स्थिति उपस्थित हो गयी।

तब नाविक ने पूछा—'क्यों शास्त्रीजी महाराज! आपको तैरना आता है या नहीं?'

शास्त्रीजी तो घबरा गये और कहा—'नहीं, भाई! मुझे और सब आता है, मात्र एक तैरना नहीं आता।'

नाविक ने कहा—'आप सब कुछ सीखे, किन्तु तैरना नहीं सीखे; यह नौका तो अभी डूब जायेगी, मैं तो तैरना जानता हूँ; अत: मैं तो तैरकर उस पार पहुँच जाऊँगा, किन्तु आप तो इस नौका के साथ अभी डूब जाओगे; अत: आप और साथ में आपकी सब विद्याएँ पानी में डूब जायेंगी।'

यह तो एक दृष्टान्त है। इसी तरह जिसको इस भव-समुद्र से तिरना हो, उसे स्वानुभव की विद्या सीखना चाहिए। अन्य अप्रयोजनभूत जानपना बहुत करे, किन्तु अन्तर में स्वभावभूत चैतन्यवस्तु क्या है? इसको यदि लक्ष्यगत न करे तो बाहरी जानपना

www.vitragvani.com

उसे (उपरोक्त विद्वान की तरह) संसार से तिरने के लिये उपयोगी नहीं होगा। जिसने बाहर की महिमा छोड़कर अन्तर में चैतन्यविद्या को साधा है, उसे बाहर की अन्य विद्यायें कदाचित् थोड़ी हों तो भी (नाविक की तरह) स्वानुभव की विद्या के द्वारा वह भव-समुद्र को तिर जायेगा और तीन लोक में सबसे श्रेष्ठ ऐसी केवलज्ञान विद्या का वह स्वामी हो जायेगा।

रे जीव! तुझे स्वानुभव की कला सिखानेवाले और संसार से तारनेवाले सन्त-धर्मात्मा मिले हैं तो अब बाहरी कला की जानकारी का महत्त्व छोड़कर, स्वानुभवकला की महत्ता को समझ! भाई! इसके बिना संसार का अन्त नहीं होगा। इस स्वानुभव के सामने दुनियाँ का अन्य सब पढ़ना-लिखना व्यर्थ है। एक क्षणभर का स्वानुभव हजारों वर्षों के शास्त्र-पठन से भी ज्यादा बढ़कर है; अतः तू इसको जान। धर्मी को आत्मा के ज्ञान-ध्यान से बहुत शुद्धता बढ़ती जाती है और असंख्यातगुणी निर्जरा होती जाती है। बाहरी उघाड़ बढ़े, चाहे न बढ़े; किन्तु अन्तर में चैतन्य के अनुभव की ज्ञान की शक्ति तो उसे बढ़ती जाती है और आवरण एकदम टूटता जाता है। एक क्षणभर के स्वानुभव से ज्ञानी के जितने कर्म टूटते हैं, उतने कर्म, अज्ञानी के लाखों उपाय करने से भी नहीं टूटते। ऐसे सम्यक्त्व की व स्वानुभव की कोई अचिन्त्य महिमा है-ऐसा समझकर हे जीव! तू इसकी आराधना में तत्पर हो। ●

www.vitragvani.com

केवलज्ञान का निर्णय कौन कर सकता है ?

साधक के श्रुतज्ञान में भी अचिन्त्य ताकत है

केवलज्ञान और सम्यक्मति-श्रुतज्ञान एक जाति के होने से मति-श्रुतज्ञान, केवलज्ञान का भी निर्णय कर सकते हैं। 'मुझे स्वानुभव हुआ या नहीं, अथवा मैं भव्य हूँ या नहीं, यह केवली जाने, अपने को इसका पता नहीं पड़ता' —ऐसे वचन ज्ञानी के नहीं होते। अपने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के बल से ज्ञानी तो नि:शङ्क (केवलज्ञानी जितना ही नि:शङ्क) जानता है कि मुझे मेरे आत्मा का स्वानुभव हुआ, भवकट्टी हो गयी और भव्य तो हूँ ही, किन्तु अत्यन्त निकट भव्य हूँ। आत्मा का आराधक हुआ हूँ और प्रभु के मार्ग में मिला हूँ। अब हमारे इस भवभ्रमण में भटकना नहीं होगा - ऐसा अन्दर से आत्मा स्वयं ही स्वानुभव की ललकार करता हुआ जवाब देता है।

प्रश्न : अज्ञानी भी केवलज्ञान का सच्चा निर्णय कर सकता है या नहीं ?

उत्तर : भाई ! केवलज्ञान का सम्यक् निर्णय करने पर अज्ञान नहीं रहता क्योंकि केवलज्ञान का निर्णय उसकी जाति के अंश द्वारा ही होता है; उससे विरुद्ध भाव द्वारा केवलज्ञान का निर्णय नहीं होता। राग से या अज्ञान से केवलज्ञान का निर्णय नहीं होता। सामान्यरूप से वह भले केवलज्ञानी को स्वीकार करता हो परन्तु यदि उसका सच्चा स्वरूप पहचानकर स्वीकार करे तो वह अज्ञानी नहीं रहता। यही बात पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में भी कही है—'अरहन्तदेव के कोई विशेषण तो पुद्गलाश्रित हैं

www.vitragvani.com

और कोई विशेषण जीवाश्रित हैं, उन्हें अज्ञानी भिन्न-भिन्न नहीं पहिचानता... जो बाह्य विशेषण हैं, उन्हें जानकर उनसे अरहन्तदेव का महानपना मानता है परन्तु जो जीव के विशेषण हैं, उन्हें यथावत् न जानकर, उनके द्वारा अरहन्तदेव का महानपना मात्र आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा भी मानता है; यदि जीव के यथावत विशेषण जाने तो मिथ्यादृष्टि रहे नहीं।'

शङ्का : कोई जीव अरहन्तादि का श्रद्धान करता है, उनके गुणों को पहिचानता है, तथापि उसे तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता; इसलिए जिसे अरहन्तादि का सच्चा श्रद्धान हो, उसे तत्त्वश्रद्धान अवश्य होता ही है - ऐसा नियम सम्भव नहीं है।

समाधान : तत्त्वश्रद्धान के बिना अरहन्तादि के ४६ आदि गुण वह जानता है, वहाँ पर्यायाश्रित (देहाश्रित) गुणों का भी जानपना होता नहीं क्योंकि जीव-अजीव की भिन्न जाति को पहिचाने बिना अरहन्त आदि के आत्माश्रित और शरीराश्रित गुणों को वह भिन्न-भिन्न नहीं जानता। यदि जाने, तब तो अपने आत्मा को परद्रव्य से भिन्न क्यों न जाने ? यही प्रवचनसार, गाथा 80 में कहा है कि ....जो अरहन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व द्वारा जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है... अरहन्तादिक का स्वरूप तो आत्माश्रितभावों द्वारा तत्त्वज्ञान होने पर ही ज्ञात होता है; इसलिए जिसे अरहन्तादिक का सच्चा श्रद्धान हो, उसे तत्त्वश्रद्धान अवश्य होता ही है-ऐसा नियम जानना।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222 तथा 326)

देखो! यह अरहन्तादिक को पहिचानने की विधि! 'अरहन्तादिक' कहा अर्थात् मुनि या सम्यग्दृष्टि इत्यादि धर्मात्मा

www.vitragvani.com

के स्वरूप को यदि उनके आत्मिकलक्षणों से वास्तविक पहिचाने तो उसे भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन अवश्य होता ही है परन्तु यह पहिचानने की विधि राग से पार है। राग में खड़े रहकर यह पहिचान नहीं होती; ज्ञानभाव में रहकर यह पहिचान होती है।

इस प्रकार केवलज्ञान के स्वरूप का निर्णय करनेवाला ज्ञान भी, केवलज्ञान की जाति का ही हो जाता है। साधक के श्रुतज्ञान में भी ऐसी अचिन्त्य ताकत है। केवलज्ञान बड़ा भाई है तो श्रुतज्ञान छोटा भाई है। दोनों की जाति एक ही है।

मति, श्रुत, अवधि, मनः, केवल सबहि एक हि पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ती लहे॥

(समयसार, गाथा 204)

अपूर्व भावना

मिथ्यात्व आदिक भाव की, कर जीव ने चिर भावना।
सम्यक्त्व आदिक भाव की, पर की कभी न प्रभावना॥90॥

निरञ्जन निज परमात्म तत्त्व के श्रद्धानरहित अनासन्न भव्य जीव ने मिथ्यात्वादि भावों को पूर्व में सुचिरकाल भाये हैं परन्तु स्वरूप शून्य ऐसे उस बहिरात्म जीव ने सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को पूर्व में कभी नहीं भाया है। इस मिथ्यादृष्टि जीव से विपरीत गुण समुदायवाला अति आसन्नभव्य जीव होता है अर्थात् भव के अभाव के लिये पूर्व में कभी नहीं भायी हुई ऐसी अपूर्व भावना वह निरन्तर भाता है।

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व, वीतरागभाव है

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् जीव को दो प्रकार के भाव होते हैं : एक रागरहित और दूसरा रागवाला; सम्यग्दर्शन हुआ, वह स्वयं रागरहित भाव है; सम्यग्ज्ञान हुआ, वह भी रागरहित है; चारित्र परिणति में अभी कितना ही राग बाकी है, परन्तु उसे ज्ञान का उपयोग जब स्व में जुड़ता है, तब बुद्धिपूर्वक राग का वेदन उस उपयोग में नहीं होता; वह उपयोग तो आनन्द के ही वेदन में मग्न है, इसलिए उस समय अबुद्धिपूर्वक का ही राग है और जब बाहर में उपयोग हो, तब सविकल्पदशा में जो राग है, वह बुद्धिपूर्वक का है, तथापि उस समय भी सम्यग्दर्शन स्वयं कहीं रागवाला नहीं हो गया है। भले कदाचित् उस समय 'सराग सम्यक्त्व' नाम दिया जाये, तथापि वहाँ दोनों का भिन्नपना समझ लेना कि सम्यग्दर्शन अलग परिणाम है और राग अलग परिणाम है; एक ही भूमिका में 'राग' और 'सम्यक्त्व' दोनों साथ में होने से वहाँ 'सराग सम्यक्त्व' कहा है। कहीं राग, वह सम्यक्त्व नहीं और सम्यक्त्व स्वयं राग नहीं है। चौथे गुणस्थान का सम्यग्दर्शन भी वास्तव में वीतराग ही है; और वीतरागभाव ही मोक्ष का साधन होता है; रागभाव मोक्ष का साधन नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि को एक साथ दोनों धारायें होने पर भी, एक मोक्ष का कारण और दूसरा बन्ध का कारण—इन दोनों को भिन्न-भिन्न स्वरूप से पहिचानना चाहिए। बन्ध-मोक्ष के कारण भिन्न-भिन्न हैं। यदि उन्हें एक-दूसरे में मिला दें तो श्रद्धान में भूल होती है।

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन के पास के राग को भी मोक्ष का कारण मान ले तो उसने बन्ध के कारण को मोक्ष का कारण मान लिया। ऐसे जीव को शुद्ध आत्मा का ध्यान या रागरहित की निर्विकल्पदशा नहीं होती, अर्थात् उसे मोक्षमार्ग नहीं होता; वह मोक्षमार्ग के नाम से भ्रम से बन्धमार्ग का ही सेवन कर रहा है।

अथवा, जीव के परिणाम तीन प्रकार के हैं : शुद्ध, शुभ और अशुभ। उनमें मिथ्यादृष्टि को अशुभ की मुख्यता गिनी है, क्वचित् शुभ भी उसे होता है। उसे शुद्धपरिणति नहीं होती है। शुद्धपरिणाम की शुरुआत सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है। चतुर्थादि गुणस्थान में शुभ की मुख्यता कही है, और साथ में आंशिक शुद्धपरिणति तो सदा ही वर्तती है। यद्यपि शुद्ध उपयोग कभी-कभी होता है परन्तु शुद्धपरिणति तो सदैव वर्तती है और सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी स्थानों में अकेला शुद्धोपयोग ही होता है। परिणति में जितनी शुद्धता है, उतना ही धर्म है, उतना ही मोक्षमार्ग है। जीव जब अन्तर्मुख होकर अपूर्व धर्म की शुरुआत करता है-साधकभाव की शुरुआत करता है, तब उसे निर्विकल्प शुद्धोपयोग होता है। उस निर्विकल्प स्वानुभव द्वारा ही मोक्षमार्ग का द्वार खुलता है।

अहो! यह तो वास्तविक प्रयोजनभूत, स्वानुभव की उत्तम बात है। स्वानुभव की ऐसी सरस वार्ता भी महाभाग्य से ही सुनने को मिलती है... और उस अनुभवदशा की तो क्या बात!

चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि हो।

www.vitragvani.com

स्वभाव के अनुभवशील और विभाव के क्षयकरणशील— ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव करो

समयसार के कलश में स्वानुभव के अद्‌भुत वर्णन द्वारा अध्यात्मरस के कलश भर-भरकर मुमुक्षुओं को पिलाया है। जैसे दूधपाक में जहर शोभा नहीं देता; इसी प्रकार चैतन्य के स्वानुभव में विकल्प शोभा नहीं देता। अत्यन्त सुन्दर चैतन्यवस्तु... वह तो अनुभव से ही शोभित होती है। अहा! जिस स्वानुभव की बात सुनने पर भी मुमुक्षु को उसका उत्साह जागृत होता है... और वीर्योल्लास विकल्प में से हटकर स्वानुभव की ओर ढलता है-वह अनुभवदशा कैसी है, उसका रोमाञ्चकारी वर्णन।

शुद्ध आत्मा के अनुभवकाल में कैसी स्थिति होती है? वह कहते हैं—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥9॥

चैतन्यधाम—स्वयंसिद्ध वस्तु के अनुभव के प्रत्यक्ष स्वाद में कोई विकल्प शोभा नहीं देता। अहा! स्वानुभूति का जो अतीन्द्रिय आनन्द, उसमें विकल्प की आकुलता शोभा नहीं देती। मीठे दूधपाक में क्या ज़हर की बूँद शोभा देती है? नहीं। उसी प्रकार चैतन्य की अनुभूति के आनन्द का जो मीठा स्वाद, उसमें विकल्प

www.vitragvani.com

की आकुलतारूप ज़हर नहीं मिलता। विकल्परहित आनन्द, रागरहित आनन्द अर्थात् शुद्ध आत्मा का आनन्द क्या चीज़ है- इसकी खबर स्वानुभूति में पड़ती है। सम्यक्त्व के साथ अविनाभूत ऐसे इस परम आनन्द का स्वाद सम्यग्दृष्टि को ही होता है; मिथ्यादृष्टि को उस आनन्द की गन्ध भी नहीं होती। वह तो विकल्प के ही आनन्द में रच रहा है। विकल्प शोभावाली वस्तु नहीं है; शोभावाली वस्तु तो चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द है। उस आनन्द के समीप विकल्प शोभा नहीं देता। जैसे अत्यन्त सुन्दर वस्तु के समीप खराब वस्तु शोभा नहीं देती; जैसे चक्रवर्ती के सिंहासन में साथ में भिखारी शोभा नहीं देता; उसी प्रकार चैतन्य के स्वानुभव का अत्यन्त सुन्दर आनन्द, कि जो आनन्द, चक्रवर्ती के या इन्द्र के वैभव में भी नहीं है; उस आनन्द के धाम के साथ अशुचिरूप विकल्प शोभा नहीं देता, अर्थात् स्वानुभव में वह विकल्प होता ही नहीं।

अरे! अनुभव के साथ जो विकल्प शोभा नहीं देता, उस विकल्प का अवलम्बन लेकर अनुभव करना चाहे, उसे तो स्वानुभव के स्वरूप की ही खबर नहीं है। यह अनुभव पर की सहायता से रहित है, इसमें विकल्प की भी सहायता नहीं है। अनुभवदशा के समय वचन और विकल्प सहज बन्द हो जाते हैं... उपयोग बाहर से खिंचकर अन्तर में झुक गया है और आनन्द के अनुभव में ही मग्न है।

आनन्दस्वभाव में उपयोग की एकता और विकल्प से उपयोग की पृथक्ता का नाम निर्विकल्पता है। ऐसी निर्विकल्पता में अतीन्द्रिय आनन्द का भोग होता है। ऐसे अनुभव के समय विकल्प नहीं होता; इसलिए कहा कि वहाँ विकल्प शोभता ही नहीं।

www.vitragvani.com

अहा! अत्यन्त सुन्दर चैतन्यवस्तु तो स्वानुभव से ही शोभती है; वह किसी विकल्प से नहीं शोभती। चैतन्य का स्वानुभव परसहाय से निरपेक्ष है। विकल्प की सहायता लेने जाये तो शुद्ध आत्मा स्वानुभव में नहीं आता। शुद्ध आत्मा कहता है कि जहाँ मैं, वहाँ विकल्प नहीं। स्वानुभव, वह प्रत्यक्ष ज्ञानरूप है और सम्यक्त्व उसके साथ अविनाभावी है।

अहा! ऐसी स्वानुभव की बात सुनने पर भी मुमुक्षु को पहले तो उसका उत्साह जगे... उसकी महिमा आवे और विकल्प की महिमा उड़ जाये – इसलिए उसके वीर्य का उल्लास विकल्प से हटकर स्वानुभव की ओर झुके, परन्तु प्रथम जिसे स्वानुभव की बात रुचे भी नहीं, उसका पुरुषार्थ, स्वानुभव की ओर कब ढलेगा?

अरे! भगवान तीर्थङ्करदेव की सभा में ऐसी स्वानुभव की बात इन्द्र भी उत्साह से सुनते हैं और साथ में सिंह बाघ जैसे कोई तिर्यञ्च भी यह बात सुनकर, अन्तर में उतरकर स्वानुभव कर लेते हैं।

देखो न! महावीर भगवान के जीव को सिंहपर्याय में मुनियों ने सम्यक्त्व का उपाय सुनाया और कहा कि 'अरे जीव! तू भरतक्षेत्र का इस चौबीसी का चरम तीर्थङ्कर होनेवाला है–ऐसा भगवान की वाणी में हमने सुना है, और यह क्या? तू ऐसे क्रूर भाव में पड़ा है? अरे, तेरा निजपद सम्हाल! और सम्यक्त्व को ग्रहण कर!'

मुनियों के वचन सुनते ही सिंह का आत्मा जाग उठा... अरे! मुझे देखकर मनुष्य तो भगते हैं, उसके बदले ये तो ऊपर से नीचे उतरकर मेरे सामने खड़े हैं और मुझे उपदेश देकर निजपद बताते हैं। इस प्रकार समझकर, टकटकी लगाकर मुनियों के सन्मुख

www.vitragvani.com

देखता रहा। आँख में से आँसुओं की धारा के साथ मिथ्यात्व भी बाहर निकल गया और तत्क्षण सिंह का आत्मा, सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। जैसा निर्विकल्प अनुभव यहाँ समयसार में कहा है, वैसा निर्विकल्प अनुभव वह सिंह प्राप्त कर गया। ऐसे तो असंख्यात तिर्यञ्च निर्विकल्प अनुभव को प्राप्त हुए हैं और उससे भी ऊँची पाँचवीं भूमिका को प्राप्त मध्यलोक में सदा ही होते हैं। असंख्यात तिर्यञ्च, असंख्यात देव, असंख्यात नारकी जीव और ढाई द्वीप में अरबों मनुष्य भी शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव प्राप्त हैं।

कैसा है वह अनुभव ?

पर-सहाय से अत्यन्त निरपेक्ष है। पर कहने से विकल्प की भी सहायता स्वानुभव में नहीं है। ऐसा अनुभव, वह मोक्षमार्ग है और उसमें रत्नत्रय समाहित होता है—

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप;
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप।

अहो! अनुभव में तो अतीन्द्रिय अमृत का सागर है। जैसे चिन्तामणि, जो चिन्तवन करो, वह देता है।-क्या देता है ? बाहर के पदार्थ। इस चैतन्य के अनुभवरूप चिन्तामणि ऐसा है कि उसे ज्ञान में लेकर चिन्तवन करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र -केवलज्ञान-मोक्ष सब देता है। यह अनुभव अमृतरस का कुँआ है-जिसका स्वाद चखने से आत्मा अमर होता है। जगत के सभी स्वाद से अनुभव के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अलग है। ऐसा स्वानुभव, वही मोक्ष का मार्ग है और वह स्वयं मोक्षस्वरूप है। सभी विकल्प तो अनुभव से बाह्य है, परवस्तु जैसे हैं। इस स्वानुभव

www.vitragvani.com

में विकल्प की या किसी चीज़ की अपेक्षा नहीं है; पर से और विकल्प से अत्यन्त निरपेक्ष-सर्वथा निरपेक्ष, पर से अत्यन्त उदासीन यह अनुभव, प्रत्यक्ष-ज्ञानगम्य है। मति-श्रुत में भी स्वभावसन्मुखता के समय प्रत्यक्षपना-अतीन्द्रियपना है। ऐसा विशेष ज्ञान, वह अनुभव है और ऐसे अनुभव के साथ सम्यक्त्व सदा होता है। सम्यग्दृष्टि को ही ऐसा अनुभव होता है; मिथ्यादृष्टि को ऐसा अनुभव नहीं होता-यह नियम है।

कोई कहे कि निर्विकल्प अनुभव तो कभी हुआ नहीं, परन्तु सम्यक्त्व है-तो ऐसा नहीं होता। ऐसा निर्विकल्प अनुभव हो, तब ही सम्यक्त्व प्रगट होता है। ऐसे अनुभव द्वारा जीववस्तु स्वयं अपने शुद्धस्वरूप के स्वाद को प्रत्यक्षरूप से आस्वादती है और स्वरूप के ऐसे आस्वादपूर्वक उसकी जो प्रतीति हुई, वही सम्यग्दर्शन है।

और, कोई कहे कि सम्यक्त्व नहीं परन्तु आत्मा का अनुभव कभी-कभी हो जाता है-तो उसकी बात मिथ्या है। अनुभव कभी सम्यक्त्व के बिना नहीं होता। विकार, वह जीववस्तु से बाह्य है। स्वानुभव में जीववस्तु, विकार से भिन्न होकर अपने शुद्धस्वरूप को ही आस्वादती है। अनुभव करनेवाली पर्याय को जीववस्तु के साथ अभेद करके कहा कि जीववस्तु स्वयं अनुभवरस को आस्वादती है। अनुभव के समय द्रव्य-पर्याय के भेद कहाँ हैं? द्वैत ही नहीं; द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद एकरस आत्मा अद्वैतरूप निर्विकल्प स्वाद में आता है।

जैसे सूर्य से अन्धकार भिन्न है; वैसे ही चैतन्य के अनुभव से विकल्प भिन्न है। चैतन्य का अनुभव तो सूर्य जैसा प्रकाशमान है

www.vitragvani.com

और विकल्प तो अन्धकाररूप है। ऐसा अनुभव आठ वर्ष की बालिका भी कर सकती है, मेंढ़क भी कर सकता है; असंख्यात तिर्यञ्च, नारकी, देवों को ऐसा अनुभव है। बालक या मेंढ़क तो देह की दशा है, अन्दर रहा हुआ चैतन्यस्वरूप जीव ऐसा अनुभव करता है।

मति-श्रुतज्ञान, पर को जानने में परोक्ष हैं परन्तु स्व-संवेदन के काल में तो इन्द्रिय तथा मन से छूटकर प्रत्यक्ष हुए हैं। अनुभव -काल में वचन नहीं, विकल्प नहीं—ऐसा अनुभव है, वह जीव के प्रत्यक्ष-अनुभवनशील है और सर्व विकल्पों का क्षयकरणशील है; इस प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों पहलू लिये हैं। जहाँ ज्ञान अन्तर में झुका, वहाँ वह जीव शुद्धस्वरूप का अनुभवनशील हुआ और समस्त विकल्प बाहर रह गये; इसलिए विकल्प का क्षयकरणशील हुआ। अनुभवशील अर्थात् शुद्धस्वरूप का अनुभव करने का ही जिसका स्वभाव है और क्षयकरणशील अर्थात् सर्व विकल्पों का क्षय करने का जिसका स्वभाव है - ऐसी शुद्ध जीववस्तु है। एक सूक्ष्म विकल्पमात्र के व्यवहार को भी अनुभव में रहने दे—ऐसा जीव का स्वभाव नहीं है परन्तु सम्पूर्ण शुद्धस्वभाव को अनुभव में ले और सर्व परभावों को बाहर निकल डाले-ऐसा स्वभाव है।

अरे! जो वीर होकर आत्मा का अनुभव करने आया, उसका पुरुषार्थ छिपता नहीं है। सूर्य कहीं ढँका रहता होगा! इसी प्रकार चैतन्य के अनुभव का ज्वाजल्यमान सूर्य जहाँ उदित हुआ, उसमें कहीं उस विकल्प का अन्धकार रहता होगा? विकल्प को उपजावे, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है परन्तु सर्व विकल्पों का क्षय करके

www.vitragvani.com

चैतन्य को साक्षात् अनुभव में ले-ऐसा स्वभाव है। ऐसे स्वभाव को अनुभव में ले, तब जीव धर्मी होता है।

जैसे सूर्य का स्वभाव, अन्धकार को तोड़ने का है, रखने का नहीं; उसी प्रकार चैतन्य के अनुभवरूप जो सूर्य है, उसका स्वभाव विकल्प को तोड़ने का है, रखने का नहीं। वस्तु ही ऐसे स्वभाववाली है कि उसकी स्वानुभूति करते ही स्वभाव का अनुभव करावे और विकल्प का क्षय करे। इसलिए किसी राग के अवलम्बन द्वारा वस्तु का अनुभव करना चाहे तो वह नहीं हो सकता। वस्तु के स्वभाव में जो नहीं-उसके द्वारा वस्तु का अनुभव कैसे होगा? और वस्तुस्वभाव के अनुभव द्वारा यदि विकार का नाश न हो तो विकार का नाश करने का दूसरा कोई उपाय नहीं रहता। जैसे सूर्य में से अन्धकार उत्पन्न नहीं होता; इसी प्रकार वस्तु के अनुभव में विकार की उत्पत्ति नहीं होती।

और, विशेषता यह है कि जैसे, सूर्य में अन्धकार का स्वभाव से ही अभाव है, उसमें अन्धकार है ही नहीं कि जिसे निकालना पड़े! इसी प्रकार स्वानुभवरूप चैतन्यसूर्य में विकल्परूप अन्धकार का स्वभाव से ही अभाव है; उस स्वानुभव काल में विकल्प है ही नहीं कि जिसे नष्ट करना पड़े। अनुभव का भाव और विकल्प का भाव, दोनों भिन्न हैं; प्रकाश का पुञ्ज सूर्य और अन्धकार—उन्हें जैसे एकता नहीं है, वैसे ज्ञान का पुञ्ज स्वानुभव और विकल्प की आकुलता-इन दोनों को कभी एकता नहीं है। ऐसी निर्विकल्पता का अनुभव सम्यग्दर्शन में चौथे गुणस्थान से ही होता है।

प्रश्न : स्वानुभव में अबुद्धिपूर्वक विकल्प तो होते हैं?

www.vitragvani.com

उत्तर : वह विकल्प, विकल्प में है; स्वानुभव का जो भाव है, उसमें विकल्प नहीं। विकल्प और स्वानुभव दोनों चीज़ ही पृथक् है। स्वानुभव के काल में अबुद्धिपूर्वक विकल्प है, वह है अवश्य परन्तु स्वानुभव के भाव में विकल्प का भाव नहीं है। जैसे जगत् में अन्यत्र कहीं अन्धकार हो, वह कहीं सूर्य में नहीं है। सूर्य से तो अन्धकार भिन्न ही है, सूर्य में अन्धकार नहीं है; उसी प्रकार स्वानुभव में विकल्प नहीं है।

यहाँ **प्रश्नकार** कहता है कि स्वानुभव होने पर कोई विकल्प रहता है? या जिसका नाम विकल्प है, वे सब मिट जाते हैं? अबुद्धिपूर्वक के विकल्प तो अनुभव में है या नहीं? या वे भी छूट गये हैं?

उसका **उत्तर** इस प्रकार है कि समस्त ही विकल्प मिट जाते हैं, स्वानुभव में एक भी विकल्प नहीं रहता।

भिन्न विकल्प अबुद्धिपूर्वक है, उसका भी अनुभव के काल में लक्ष्य नहीं है; उपयोग अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में ही लगा हुआ है, उस वेदन में किसी विकल्प का प्रवेश नहीं है। आनन्द के वेदन में विकल्प को देखता ही कौन है? इसलिए कहा कि स्वानुभव के काल में समस्त विकल्प कहाँ गुम हो गये है, वह भी हम नहीं जानते। स्वानुभव प्रगट होने पर जहाँ प्रमाण-नय-निक्षेप के भेद भी अभूतार्थ हो जाते हैं, वहाँ दूसरे रागादि विकल्प की तो क्या बात? प्रमाण-नय-निक्षेप से जो वस्तुस्वरूप निर्णय किया था, वह कोई अलग नहीं है, परन्तु अनुभव के पहले प्रमाण इत्यादि के जो विकल्प थे, वे अब साक्षात् अनुभव के काल में छूट गये, इस

www.vitragvani.com

अपेक्षा से प्रमाण इत्यादि भेदों को झूठा अर्थात् अभूतार्थ कहा है। टीकाकार ने व्यवहार को अभूतार्थ बतलाने के लिये झूठा शब्द प्रयोग किया है।

प्रमाण-नय-निक्षेप, जो कि प्रथम भूमिका में स्वरूप का निर्णय करने में साधक थे, उनके विकल्प भी अनुभव में बाधक है, वहाँ राग की तो क्या कथा ? नय-प्रमाण आदि के विकल्प में रुकने से भी स्वानुभव नहीं होता, तो दूसरे स्थूल राग की क्या बात ? वह तो अनुभव में 'असत्' है ही; शुद्धात्मा का जो स्वरूप नहीं, वे सभी भाव, स्वानुभव से बाहर है, अर्थात् अभूतार्थ है, अर्थात् झूठे हैं। **ववहारो अभूयत्थो** अर्थात् समस्त व्यवहार अभूतार्थ है। यही बात यहाँ स्पष्ट की है। अनुभव के भाव में समस्त विकल्पों का अभाव बतलाने के लिये उन्हें 'झूठा' कहा है। दूसरे रागादि भाव तो अनुभव में नहीं, वे तो जीव के स्वरूप से कहीं दूर हैं और अन्दर के नवतत्त्व सम्बन्धी या आत्मा सम्बन्धी जो सूक्ष्म विकल्प, वे भी जीवस्वरूप के अनुभव से बाहर हैं।

प्रमाण से आत्मा ऐसा, शुद्धनय से ऐसा, उसके द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे, उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव ऐसे—ऐसे विचार के काल में जो विकल्प थे, वहाँ तक शुद्धात्मा साक्षात् अनुभव में आया नहीं था और जहाँ उपयोग को राग में से हटाकर, अन्तरस्वरूप में झुकाकर, उसका साक्षात् अनुभव किया, वहाँ वे कोई विकल्प नहीं रहे। वे विकल्प अभूतार्थ होने से शुद्ध वस्तु के अनुभव में उनका प्रवेश नहीं हुआ। शुद्ध वस्तु में तो विकल्प नहीं और उसके अनुभवरूप पर्याय में भी विकल्प नहीं, ऐसी अनुभवदशा के जोर

www.vitragvani.com

से साधक केवलज्ञान को प्राप्त करेगा। बीच में विकल्प आयेंगे, उनके द्वारा कहीं केवलज्ञान नहीं होगा; मोक्ष का मार्ग तो शूरवीरों का है; विकल्प में रुक जाये—ऐसे कायर जीव, इस सुन्दर मार्ग को नहीं साध सकते।

एकरूप जीववस्तु को अनेक भेद से लक्ष्य में लेने पर तो विकलप होते हैं; उसमें वस्तु का अनुभव नहीं; इसलिए वे झूठे हैं। उन सर्व विकल्पों को झूठा करने से अर्थात् उन्हें अभूतार्थ समझकर उनका लक्ष्य छोड़ने से निर्विकल्प उपयोग में वस्तु का जो स्वाद आवे, उसका नाम अनुभव है। इस कलश के आधार से पण्डित बनारसीदासजी, समयसार नाटक में कहते हैं कि —

वस्तु विचारत ध्यावते मन पावे विश्राम,
रसस्वादत सुख ऊपजे अनुभव याको नाम।

वस्तु को ध्यान में लेकर अनुभव करने से मन के विकल्प विराम को प्राप्त हो जाते हैं और चैतन्य के अतीन्द्रियरस के अनुभव से परम सुख उत्पन्न होता है–ऐसी दशा का नाम अनुभव है। ऐसा अनुभव, वह मोक्ष का मार्ग है। उस अनुभव में प्रमाण के, नय के, अथवा निक्षेप के विकल्प नहीं हैं; उसमें तो अकेला शान्त चैतन्यरस गम्भीररूप से वेदन में आता है।

जीव अनादि से अज्ञानी था, वह अपने शुद्धस्वरूप को नहीं जानता था; वह जब अपने शुद्धस्वरूप को पहचानने के लिये तैयार हुआ, तब गुण–गुणी भेद द्वारा वस्तुस्वरूप को साधता है, अर्थात् वस्तुस्वरूप का निर्णय करने जाये, वहाँ बीच में गुण–गुणी भेद आये बिना नहीं रहता। 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' – इत्यादि विचारधारा में

www.vitragvani.com

भी गुण-गुणी भेद है, यह बीच में आने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है, परन्तु साधक जीव, विकल्प और चैतन्य के स्वाद को भिन्न पाड़कर विकल्प की भूमिका को उल्लंघन कर जाता है और चैतन्य की अनुभूति करके निर्विकल्प मोक्षमार्ग में आ जाता है।

अहा! शुद्ध वस्तु का अनुभव बताकर अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत बहाया है। कलश में स्वानुभव का अमृत भरा है। जैसे तीर्थङ्करदेव के जन्म कल्याणक में 1008 कलशों से इन्द्र अभिषेक करते हैं; वैसे अमृतचन्द्राचार्यदेव ने यहाँ 278 कलशों में अमृत भर-भरकर इस चैतन्य भगवान आत्मा का अभिषेक किया है। वाह! स्वानुभव के अमृतरस से आत्मा को नहलाया है। अहो जीवों! महाभाग्य से वीरशासन प्राप्त करके, आत्मा को शुद्धस्वरूप से अनुभव में लेकर अनुभवरस का पान करो। ●

जिनमार्ग अत्यन्त सरल है

सर्वज्ञ जिनेन्द्र के मार्ग का अनुसरण करने से जीव का उद्धार होता है और वह जन्म-मरण से रहित अमर पद को प्राप्त करता है तथा यह कोई क्लिष्ट मार्ग नहीं परन्तु स्वाभाविक होने के कारण विवेकी पुरुषों के लिए अत्यन्त सरल है। हे जीव! अन्तरात्मा द्वारा इस उत्तम आनन्दकारी मार्ग का ग्रहण करने से तू सन्मार्गी हो।

www.vitragvani.com

आत्मा में गहरे-गहरे.... संसार से दूर-दूर...

[भव्य मुमुक्षु जीव की आनन्द की ओर ढलती दशा]

हे मुमुक्षु भव्य आत्मा! इस संसार की अशान्ति से तू थका है और अब किसी परमशान्ति का वेदन तू करना चाहता है तो उसके लिये तू संसार के सङ्ग से पृथक् पड़कर जहाँ शान्ति भरी है, ऐसे अन्तर तत्त्व का सङ्ग करना, बारम्बार उसका परिचय करना।

हे भव्य! जो महान कार्य तीर्थङ्करों ने साधा, वह महान कार्य तुझे साधना है; तो अब तू लौकिकजनों की तरह प्रवर्तन मत करना; लोकोत्तर ऐसे अपूर्व भाव से भगवान के मार्ग में आना। हे भाई! अभी तक तू अशान्ति में ही रहा है; सच्ची शान्ति तूने कभी देखी नहीं; इसलिए मार्ग को साधने में जरा देर लगे तो तू थकना नहीं, शिथिल नहीं होना किन्तु महान उत्साहपूर्वक इसी में लगा रहना.. मार्ग अवश्य खुल जायेगा। मार्ग तो खुला ही है। जरूरत है उसकी सच्ची भावना की।

चैतन्यभाव का बारम्बार परिचय करने से मुमुक्षु अन्दर आत्मा में गहरे-गहरे उतरता है, तब उसे कुछ ऐसा वेदन होता है कि अरे! हम इस संसार के जीव नहीं, ऐसी अशान्ति के बीच हम नहीं रह सकेंगे; हम तो शान्ति से भरी हुई किसी दूसरी ही नगरी के हैं; पञ्च परमेष्ठी भगवन्त जिसमें बसते हैं—ऐसी कोई अद्भुत नगरी ही हमारा देश है। संसार से दूर-दूर... अन्तर में गहरे-गहरे हमारा चैतन्य देश है। - इस प्रकार इस मुमुक्षु के परिणाम, संसार से हटकर चैतन्य की शान्ति में प्रवेश कर जाते हैं और उसमें प्रवेश करके अपने अद्भुत चैतन्यनिधान को देखने से उसे जो अपूर्व-आत्मिक आनन्द-शान्ति और तृप्ति का वेदन होता है, उसकी क्या बात!●

www.vitragvani.com

पञ्चम काल भी धर्म काल है
सम्यग्दर्शन के लिए अभी भी सुकाल है

प्रश्न : इस पञ्चम काल को नियमसार (गाथा 154) में दग्ध अकाल कहा है न? तो ऐसे अकाल में धर्म कैसे होगा?

उत्तर : भाई! धर्म के लिये कहीं यह अकाल नहीं है; पञ्चम काल के अन्त तक धर्म रहनेवाला है; इसलिए धर्म के लिये तो यह पञ्चम काल भी सुकाल है।

पञ्चम काल को अकाल कहा, वह तो केवलज्ञान की अपेक्षा से तथा विशेष चारित्रदशा की अपेक्षा से अकाल कहा है परन्तु सम्यग्दर्शन का कहीं पञ्चम काल में अभाव नहीं कहा है; सम्यग्दर्शनादि धर्म तो अभी हो सकते हैं। भाई! सम्यग्दर्शन के लिये तो अभी सुकाल है, उत्तम अवसर है; इसलिए काल का बहाना निकालकर तू सम्यग्दर्शन में प्रमादी मत हो।

रे जीव! तू इतना अधिक शक्तिहीन नहीं तथा यह पञ्चम काल इतना अधिक खराब नहीं कि सम्यग्दर्शन भी न हो सके! अनेक जीव इस पञ्चम काल में सम्यग्दृष्टि होते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित चारित्रदशा के धारक अनेक मुनिभगवन्त भी (कुन्दकुन्दस्वामी, समन्तभद्रस्वामी इत्यादि) इस पञ्चम काल में हुए हैं। वे भी जन्म के बाद इस पञ्चम काल में ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए हैं। पञ्चम काल में भरतक्षेत्र में सम्यक्त्वसहित आराधक जीव अवतरित नहीं होते परन्तु अवतरित होने के पश्चात् नया सम्यग्दर्शन तो पञ्चम काल में भी प्राप्त किया जा सकता है और

www.vitragvani.com

बहुत से प्राप्त हुए हैं। इसलिए हे भव्य! श्रीगुरु का उपदेश प्राप्त करके तू सम्यग्दर्शनधर्म तो अवश्य प्रगट कर। फिर विशेषशक्ति हो तो चारित्रधर्म का भी पालन करना। कदाचित् चारित्र के लिये विशेषशक्ति न हो तो भी चारित्र की भावना रखकर तू सम्यक्श्रद्धा तो अवश्य करना। हीनशक्ति का बहाना निकालकर तू सम्यग्दर्शन में शिथिल मत हो, तथा चारित्र का स्वरूप विपरीत मत मान।

पञ्चम काल मोक्ष के लिये भले अकाल हो, परन्तु कहीं सम्यग्दर्शनादि धर्म के लिये वह अकाल नहीं है; पञ्चम काल भी धर्म काल है। जो जीव, सम्यक्त्वादि धर्म करे, उसे वह पञ्चम काल में भी हो सकता है। इसीलिए सम्यग्दर्शन के लिये अभी भी सुकाल है। सातवें गुणस्थान तक की दशा अभी साढ़े अठारह हजार (18500) वर्ष तक इस भरतक्षेत्र में विद्यमान रहेगी। इसलिए इस काल के योग्य सम्यक्त्वादि धर्म तू आत्मा की निज शक्ति से अवश्य करना। इतनी शक्ति तो तुझमें है। निज शक्ति से धर्म साधने पर तुझे ऐसा लगेगा कि अहो! सन्तों के प्रताप से मेरे लिये तो यह उत्तम काल है।

धर्म काल अहो वर्ते! अध्यपि इस भरत में
आज भी धर्मी जीवो हैं प्रभु श्री वीरमार्ग में।

सर्वज्ञ की उपासना

अतीन्द्रियज्ञान-आनन्दरूप हुए सर्वज्ञदेव की वास्तविक उपासना अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही होती है; इन्द्रियज्ञान द्वारा या विकल्प द्वारा नहीं होती, इसलिए सम्यग्दृष्टि ही सर्वज्ञ का सच्चा उपासक है।

www.vitragvani.com

समकित सावन आयो

ज्ञानरूपी मेघवर्षा हुई.... भवदावानल बुझ गया!

सम्यक्त्व को श्रावण मास की उपमा दी गई है; श्रावण के महीने में जिस प्रकार मेघ वर्षा होने से सर्वत्र शान्ति छा जाती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व होने से आत्मा में अपूर्व शान्तरस की मेघवर्षा होती है! छहढाला में पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानरूपी मेघवर्षा ही इस भयङ्कर दु:खाग्नि को बुझाने का उपाय है—

''विषयचाह दवदाह जगतजन-अरनि दझावै;
तास उपाय न आन, ज्ञानघनघान बुझावे॥''

अहो, ज्ञान और राग की भिन्नता के भावभासन द्वारा जहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ, वहाँ आत्मा में चैतन्य के शान्तरस की ऐसी मेघ वर्षा हुई कि अनादिकालीन विषय-कषाय की अग्नि क्षणमात्र में बुझ गयी। ज्ञान होते ही आत्मा, कषायों से छूट गया और चैतन्य के परम शान्तरस में निमग्न हुआ। पश्चात् जो अल्प रागादि रहे, वे तो ज्ञान से भिन्नरूप रहे हैं, एकरूप नहीं हैं। कषाय के किसी अंश को धर्मी जीव, ज्ञान में एकाकार नहीं करते... ऐसा अपूर्व ज्ञान वह परम महिमावन्त है-ऐसा मुनिनाथ ने कहा है।

सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा के अनुभव से अन्तर से जहाँ शान्त चैतन्यरस की धारा उल्लसित हुई, वहाँ धर्मी कहता है कि-

अब मेरे समकित सावन आयो....
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो;
साधकभाव अंकूर उठे बहु जित-तित हरष छवायो....
अब मेरे समकित..... *(पण्डित भूधरदासजी)*

www.vitragvani.com

हमारे आत्मा में सम्यक्त्वरूपी श्रावण मास आने से अब मोह की ग्रीष्म ऋतु का ताप शान्त हो गया है और शान्त-शीतल रस की अविरल धारा असंख्य प्रदेशों में सर्वत्र बरस रही है; मोह की धूल अब नहीं उड़ती; स्वानुभवरूपी बिजली चमकने लगी है और धर्म के नवीन आनन्दमय अंकुर फूटे हैं। इस प्रकार धर्मी को सम्यग्ज्ञान की मेघवर्षा होने से परम आनन्द होता है। जिसके अन्तर में ऐसी सम्यग्ज्ञानधारा नहीं बरसती, वह अज्ञानी, मोह के ताप में जलता है, उसके तो दुष्काल है। ज्ञान की मेघवृष्टि के बिना उसे शान्ति कहाँ से होगी? इसलिए हे जीव! तू सम्यग्ज्ञान कर!

अरे, तुझे अपना हित साथ लेने का यह अवसर है, तो उसमें विकार से ज्ञान को भिन्न करने का प्रयत्न नहीं करेगा तो तुझे मोक्ष का अवसर कहाँ से आयेगा? सुलगते हुए सूखे जङ्गल की भाँति राग की चाह में जलता हुआ यह संसार... उससे छूटने के लिये अपने चैतन्याकाश में से तू सम्यग्ज्ञान के शान्त-शीतल जल की मेघवृष्टि कर!

आत्मा की समझ में आये और आत्मा से हो सके—ऐसी यह बात है। एक ओर वीतरागी शान्तरस का समुद्र; दूसरी ओर संसार के रागरूपी दावानल, उन दोनों को भिन्न जाननेवाला सम्यग्ज्ञान, राग के दावानल को बुझा देता है और आत्मा को शान्त-तृप्त करता है।

जिस प्रकार शीतल बर्फ और उष्ण अग्नि-दोनों का स्पर्श बिल्कुल भिन्न है; उसी प्रकार शान्तरसरूप ज्ञान और आकुलतारूप राग-इन दोनों का स्वाद बिल्कुल भिन्न प्रकार का है, वह ज्ञान से जाना जाता है। राग से भिन्न ज्ञान के अचिन्त्य सुख का स्वाद

www.vitragvani.com

जिन्होंने चख लिया है—ऐसे ज्ञानी जानते हैं कि ज्ञान से भिन्न ऐसे जो शुभाशुभ इन्द्रिय-विषय, उनमें कहीं मेरे सुख का अंश भी नहीं है; उनमें सुख मानना, वह मिथ्यात्व है। जहाँ सुख धरा है—ऐसे स्वविषय को भूलकर, परविषयों में सुखबुद्धि के कारण मिथ्यादृष्टि जीव, विषय-कषाय की भयङ्कर अग्नि में निरन्तर जल रहा है—दु:खी हो रहा है। अपने आत्मा को दु:खों की जलन से बचाने के लिये, हे जीव! तू शीघ्र ही विषयों से भिन्न ऐसे अपने चैतन्य-अमृत के समुद्र को देख!

कोई प्रियजन अग्नि में जल रहा हो या मकान में आग लगी हो तो उसे बचाने के लिये सारे काम छोड़कर कितने उद्यम करता है! तो यहाँ प्रिय में प्रिय ऐसा अपना आत्मा भयङ्कर भव-दु:ख की अग्नि में जल रहा है, उसे बचाने के लिये, हे जीव! तू शीघ्र उद्यम कर.... एक सम्यग्ज्ञान ही उसका उपाय है। सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा में अतीन्द्रिय शान्तरस की मेघवर्षा होगी। यह सम्यग्ज्ञान ही भयङ्कर संसार-दावानल से बचने का एकमात्र उपाय है; इसलिए मुनिवरों ने सम्यग्ज्ञान की अति प्रशंसा की है।

अहा! देखो तो सम्यग्ज्ञान की महिमा! सम्यग्ज्ञान हुआ, वहाँ आत्मा में धर्म की वर्षा प्रारम्भ हुई और शान्ति का अमृतरस बरसने लगा। सम्यग्ज्ञान होने पर चैतन्य में शान्ति की शीतल धाराएँ बहने लगती हैं और वे विषय-कषाय की अग्नि को बुझा देती हैं। सम्यग्ज्ञान के बिना अन्य किसी उपाय से जीव के विषय-कषाय नहीं मिटते और उसे सुख-शान्ति का अनुभव नहीं होता; इसलिए हे जीव! तू शीघ्र सम्यग्ज्ञान प्रगट कर। धर्म के अंकुर उगाने के लिये अब यह 'श्रावण मास' आ गया है। ●

www.vitragvani.com

सर्वज्ञस्वभावी आत्मा

दिव्य ज्ञानस्वभावी आत्मा, वह जैनशासन का महान रत्न है। जिसने उसे जान लिया, उसने समस्त जैनशासन को जान लिया।

उपयोगस्वरूपी आत्मा, सर्व को जाननेवाला, ऐसा सर्वज्ञस्वभावी है। ऐसे अपने सर्वज्ञस्वभाव को जो न जाने-न अनुभवे, वह सर्व पदार्थों को भी नहीं जान सकता।

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है-ऐसा जो स्वसंवेदन से जानता है, वह जीव, समस्त जीवों को ज्ञानस्वरूपी जानता है। ज्ञान-अपेक्षा से सभी जीव साधर्मी-समानधर्मी हैं।

सर्व जीव हैं ज्ञानमय, ऐसा जो समभाव;
वह सामायिक जानना, कहे श्री जिनराय।

जो ज्ञानसामान्य है, वह अपने अनन्त ज्ञानविशेषों में व्यापनेवाला है; ज्ञानसामान्य स्वयं अनन्त विशेषोंरूप परिणमता है। केवलज्ञान अनन्त विशेषों रूप महान ज्ञान है, उसमें ज्ञानस्वभाव व्याप्त है। यद्यपि मति-श्रुतज्ञान में भी अनन्त विशेष हैं, परन्तु केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट है; समस्त पदार्थों का प्रतिभास जिसमें एक साथ भरा है—ऐसा अद्‌भुत अनन्त विशेषोंस्वरूप केवलज्ञान में सर्वज्ञस्वभावी महा सामान्यज्ञान व्याप्त है और वह आत्मा का स्वभाव ही है। —जो ऐसे आत्मा को स्वानुभव-प्रत्यक्ष नहीं करता, उसे सर्वज्ञपना नहीं होता।

(प्रवचनसार की) 80 वीं गाथा में कहे अनुसार अरिहन्तदेव

www.vitragvani.com

के चैतन्यरूप द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, उसमें ऐसे सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का ज्ञान साथ ही आ जाता है। अरे! सर्वज्ञता की ताकत की क्या बात! जिसे राग झेल नहीं सकता और राग का कण जिसमें समाता नहीं-ऐसे सर्वज्ञस्वभाव को तो स्वसन्मुख अतीन्द्रियज्ञान ही झेल सकता है। अरे! सर्वज्ञ अरिहन्त को अपने ज्ञान में समाहित किया - यह कोई साधारण बात है!

भाई! तेरी ज्ञानपर्याय में तेरे स्वभाव को ही व्याप्त देख।

तेरी ज्ञानपर्याय में परवस्तु या राग को व्याप्त न देख।

❖ अहा! ऐसा ज्ञानस्वभाव निर्णय करे, वहाँ तो पर से और राग से ज्ञान पृथक् पड़ जाता है। भेदज्ञान होकर मोक्षमार्ग खुल जाता है। हे भाई! जाननेरूप तेरा ज्ञान है, उस ज्ञान में कौन व्याप्त है?

❖ ज्ञान में ज्ञात होते शरीरादि बाह्य पदार्थ, ज्ञान में व्याप्त नहीं हैं; वे तो ज्ञान से बाहर ही हैं। यदि अचेतन पदार्थ, ज्ञान में व्याप्त होकर तन्मय हों तो ज्ञान भी अचेतन हो जाये।

❖ राग-द्वेषादि भाव जो कि ज्ञान में अन्य ज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं, वे राग-द्वेषभाव भी ज्ञान में व्याप्त नहीं हैं। यदि ज्ञान में राग-द्वेष व्याप्त हों तो वे राग-द्वेष छूट जाने पर ज्ञान भी छूट जाये। राग-द्वेष के बिना ज्ञान का अस्तित्व नहीं रह सके-परन्तु राग-द्वेष के अभाव में भी ज्ञान तो अपने सर्वज्ञस्वरूप से शोभित हो रहा है; इसलिए ज्ञान में राग-द्वेष व्याप्त नहीं; फिर पूजा-भक्ति का शुभराग हो या विषय-कषायों का पापराग हो, वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है।

❖ अब तीसरी बात : पूर्व की जो ज्ञानपर्याय है, वह व्यय होती है और बाद की ज्ञानपर्याय उत्पन्न होती है; वहाँ पूर्व की पर्याय, उस

www.vitragvani.com

बाद की पर्याय में व्याप्त नहीं है; मति-श्रुतज्ञान छूटकर केवलज्ञान हुआ, वहाँ उस केवलज्ञान में मति-श्रुतज्ञानपर्याय व्याप्त नहीं है; इसलिए पर्याय के खण्ड-खण्ड के समक्ष देखना नहीं रहता। दो समय की पर्यायें कभी एक नहीं होती।

❖ तो अब कौन बाकी रहा-कि जो आत्मा की विशेष ज्ञानपर्याय में व्यापक है ? और वह विशेष ज्ञानपर्याय जिसे अवलम्ब कर प्रवर्तती है ? विशेष के समय ही आत्मा का ज्ञानसामान्यरूप महान स्वभाव है, वही विशेषों में व्याप्त है। जब देखो तब वह अपने में विद्यमान ही है। अनादि-अनन्त काल की जो विशेष ज्ञानपर्यायें (जिसमें भव्य जीव की अनन्त केवलज्ञानपर्यायें भी आ जाती हैं) -उन समस्त पर्यायों में व्याप्त, ऐसा एक ज्ञानस्वभावी आत्मा मैं हूँ- ऐसा धर्मी जीव स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से अपने आत्मा को जानता है। अपने सामान्य और विशेष दोनों में उसे ज्ञान ही दिखता है।

❖ ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा, वह जैनशासन का महान रत्न है; वह जिसने जान लिया, उसने समस्त जैनशासन को जान लिया। जो आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता, वह सर्वज्ञदेव को या गुरु को या शास्त्र के तात्पर्य को भी नहीं जान सकता। अपने ज्ञान में जहाँ अपना सर्वज्ञस्वभाव जाना, वहाँ पंच परमेष्ठी की या नवतत्त्वों की सच्ची पहिचान हुई। ऐसे स्वभाव को जाननेवाली श्रुतज्ञानपर्याय में भी अतीन्द्रियशान्तिसहित की कोई परम अद्भुत ताकत भरी है और धर्मी को उस पर्याय में भी अपना अखण्ड सामान्य ज्ञानस्वभाव व्याप्त दिखता है।

❖ अरे ! अपनी पर्याय में व्याप्त अपने ज्ञानस्वभाव को भी जो

www.vitragvani.com

न जाने, वह अपनी पर्याय से बाहर ऐसे परद्रव्य को तो कहाँ से जानेगा ? जो अन्धा अपने शरीर को नहीं देखता, वह दूसरे को कहाँ से देखेगा ? सम्यग्दृष्टि तो अपने सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को इन्द्रियातीत मति-श्रुतज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष करता है; पश्चात् उसकी विशेष भावनारूप एकाग्रता द्वारा शुद्धोपयोगी होकर, राग-द्वेष का क्षय करके, केवलज्ञानरूप परिणमित होता है। वह केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान -विशेषोंवाला परिपूर्ण है और केवलज्ञानी प्रभु ऐसे अनन्त विशेषोंरूप परिणमित सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को केवलज्ञान द्वारा साक्षात्-प्रत्यक्ष जानते हैं।

❖ भगवान महावीर ऐसे सर्वज्ञ हैं-ऐसे सर्वज्ञरूप से उनकी पहिचान ही सर्वज्ञ महावीर की सच्ची पहिचान है। ऐसी पहिचान करनेवाला जीव, आत्मा को जानकर महावीर के मार्ग से मोक्ष में जाता है।

जय सर्वज्ञ महावीर

●

अहो वर्धमानदेव!

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मंगल मार्ग का इष्ट उपदेश प्रदान करके आपश्री ने परम उपकार किया है; उसे याद करके हम आपके निर्वाण का ढाई हजार वर्षीय महान उत्सव मना रहे हैं और आपके मंगल मार्ग में आ रहे हैं।

www.vitragvani.com

श्रावक के इक्कीस गुणों का वर्णन

अध्यात्म-कवि पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के अन्त में चौदह गुणस्थान का वर्णन किया है; उसमें अणुव्रत स्वरूप पाँचवें गुणस्थान के वर्णन में श्रावक के 21 गुण बताये हैं। वे सर्व जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी होने से यहाँ दे रहे हैं। सर्व मुमुक्षुओं को इन गुणों का स्वरूप विचारकर अपने में धारण करना चाहिए, जिससे जीवन शोभायमान होगा:-

[सवैया]

लज्जावंत दयावंत प्रशांत प्रतीतवंत,
परदोष कौ ढकैया पर उपगारी है।
सौमदृष्टि गुनग्राही गरिष्ट सबको इष्ट,
शिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है॥
विशेषज्ञ रसज्ञ कृतज्ञ तज्ञ धरमज्ञ,
न दीन न अभिमानी मध्य विवहारी है।
सहज विनित पापक्रियासौं अतीत ऐसौ,
श्रावक पुनीत इकवीस गुनधारी है॥

1. **लज्जावन्त**- कोई भी पापकार्य, अन्याय, अनीति इत्यादि में उसे लज्जा आती है कि अरे! मैं तो जैन, मैं जिनवरदेव का परम भक्त, मैं आत्मा का जिज्ञासु हूँ; अत: मुझे ऐसे पापकार्य शोभा नहीं देते।

2. **दयावन्त**- अरे, घोर दु:खमय यह संसार, उसमें जीव कैसे दु:खी हैं! मेरे निमित्त से कोई जीव को दु:ख न हो, किसी को दु:ख

www.vitragvani.com

देने का भाव मुझे न हो। मेरा आत्मा दु:ख से छूटे और जगत के जीव भी दु:ख से मुक्त हो – ऐसी दयाभावना होती है।

3. प्रशान्त : कषाय बिना के शान्तपरिणाम होते हैं; मान-अपमानादि के छोटे-छोटे प्रसङ्गों में बारबार क्रोध हो जाये, या अनुकूलता के प्रसङ्ग में हर्ष से फूला नहीं समाये-ऐसा उसे नहीं होता। दोनों प्रसङ्ग में विशेष क्रोध एवं हर्ष से रहित शान्त-गम्भीर परिणामवाला होता है।

4. प्रतीतवन्त : देव-गुरु-धर्म के प्रति तथा साधर्मी के प्रति उसको श्रद्धा होती है; बात-बात में साधर्मी के ऊपर सन्देह-शङ्का करना, वह श्रावक को शोभा नहीं देता; स्वयं का अपमानादि हो, प्रतिकूल प्रसङ्ग आवे तथा दूसरे का मानादि बढ़ जाये तो भी धर्म में सन्देह नहीं करता, दृढ़ प्रतीति रखता है।

5. पर दोष को ढँकनेवाला : अरे रे! दोष में तो जगत के जीव डूबे हुए ही हैं; वहाँ पर के दोष क्या देखना? मुझे तो मेरे दोष मिटाने हैं। कोई साधर्मी से या अन्य जीव से दोष हो जाये तो, उसकी रक्षा करके उसका दोष कैसे दूर होवे वैसा उपाय करना उचित है, परन्तु दोष देखकर निन्दा करना उचित नहीं है।

6. पर-उपकारी : धर्मबुद्धि द्वारा तथा तन-मन-धनादि द्वारा भी परजीवों का उपकार करते हैं। जगत के जीवों का हित हो, साधर्मियों को देव-गुरु-धर्म के सेवन में सर्व प्रकार से अनुकूलता हो और वे निराकुलता से धर्म का आराधन करें—ऐसी उपकार -भावना श्रावक को होती है।

7. सौम्यदृष्टिवन्त : उनकी दृष्टि में सौम्यता होती है। जैसे,

www.vitragvani.com

माता, बालक को मीठी नजर से देखती है; उसी प्रकार धर्मात्मा सभी जीवों को मीठी नजर से देखते हैं। उनको देखकर दूसरे जीव भयभीत हो जायें-ऐसी क्रूरता नहीं होती; उनका परिणाम ऐसा सौम्य होता है कि जिनका सङ्ग दूसरे जीवों को भी शान्ति प्राप्त कराता है।

8. गुणग्राही : वे गुणों के ग्राहक होते हैं; सम्यक्त्वादि गुणों को देखकर उसकी प्रशंसा करते हैं; किसी में अल्प क्रोधादि दोष देखकर, उसके सम्यक्त्वादि गुणों के प्रति अनादर नहीं करते, परन्तु गुणों को देखकर उसका आदर करते हैं। कोई अपना अपमानादि करे तो भी उसके गुणों का अनादर नहीं करते, परन्तु ऐसा विचार करते हैं कि मेरा अपमान किया तो किया, फिर भी उसे जैनधर्म के प्रति तो प्रेम-आदर है, वह जैनधर्म का भक्त है, देव -गुरु का आदर करनेवाला है; अत: मेरा साधर्मी है, ऐसे उसके गुणों का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार गुण का ग्रहण करने से साधर्मी के प्रति द्वेषभाव नहीं आता, परन्तु प्रेम और वात्सल्यभाव बना रहता है।

9. गरिष्ट (सहनशील) : संसार में शुभाशुभकर्मों के योग से अनुकूलता-प्रतिकूलता तो आती ही है। कोई प्रतिकूलता आ जाये या अपमानादि हो, रोग हो, तब धैर्यपूर्वक सहन करते हैं और धर्म में दृढ़ता रखते हैं; प्रतिकूलता आने पर घबड़ाते नहीं, खेदखिन्न होकर आर्तध्यान नहीं करते, परन्तु सहनशीलता से वैराग्य को बढ़ाते हैं।

10. सर्वप्रियता : सभी जीवों के प्रति मधुर व्यवहार रखते हैं, कठोर व्यवहार नहीं रखते; साधर्मी के प्रेम के कारण सज्जनता के कारण तथा न्यायनीति और धार्मिकवृत्ति के कारण सज्जनों को तो

www.vitragvani.com

वह प्रिय लगता ही है, तथा कोई विरोधी हो तो उसके प्रति भी प्रेमपूर्ण व्यवहार से उसके दिल को भी जीत लेते हैं। कहीं पर भी क्लेश बढ़े, ऐसा कटुतापूर्ण व्यवहार नहीं करते।

11. **शिष्टपक्षी :** सत्य और सदाचार का पक्ष करनेवाला होता है। लौकिक प्रयोजन के लिये, मान से या भय से सत्यधर्म को तथा न्याय-नीति को छोड़ता नहीं। जहाँ धर्म हो, जहाँ सत्य हो और जहाँ न्याय हो, उसका पक्ष करता है।

12. **मिष्टवचनी :** जिन से स्व-पर का हित होता हो—ऐसे मधुर वचन बोलते हैं। जिनके द्वारा स्वयं को कषाय हो अथवा दूसरे का दिल पीड़ित हो-ऐसे कठोर वचन नहीं बोलते। शान्ति से, मधुरता से, कोमलता से सत्य और हित की बात करते हैं। सत्य बात भी कठोरता से नहीं कहते।

'दो दिन के मेहमान, बोली बिगाड़े कौनसौ ?'

13. **दीर्घविचारी :** देश-काल का विचार करके, अपने परिणाम का, शक्ति का विचार करके और स्व-पर के हित का विचार करके योग्य प्रवृत्ति करते हैं। अन्य की देखादेखी बिना विचारे निष्प्रयोजन प्रवृत्ति में नहीं पड़ते। जिससे वर्तमान में तथा भविष्य में अपने को शान्ति रहे और धर्म की शोभा बढ़े-ऐसी प्रवृत्ति विचारपूर्वक करते हैं।

14. **विशेषज्ञ :** संघ की स्थिति, देश-काल की स्थिति इत्यादि के जानकार होते हैं। धर्म में या गृह व्यवहार में कब कैसी परिस्थिति होगी, कब कैसी जरूर पड़ेगी—उसके जानकार होते हैं, और उनके योग्य उपाय करते हैं।

www.vitragvani.com

15. रसज्ञ : रस अर्थात् तात्पर्य; शास्त्राभ्यास आदि में उसके शान्तरसरूप सच्चे रहस्य के जाननेवाले होते हैं। उन्होंने धर्म का मर्म जानकर शान्तरस का स्वाद तो लिया ही है; अत: वे परमार्थ के रसज्ञ हैं; और व्यवहार में भी करुणारस, रौद्ररस आदि को यथायोग्य जानते हैं।

16. कृतज्ञ : अहो! देव-गुरु-धर्म के परम उपकार की तो क्या बात! उनका बदला तो किसी प्रकार चुकाया नहीं जा सकता; उनके लिये मैं जो कुछ करूँ वह कम है। इस प्रकार महान उपकारबुद्धि से देव-गुरु-धर्म के प्रति प्रवर्ते। उसी प्रकार साधर्मीजनों के उपकार अथवा अन्य सज्जनों के उपकार को भी वे नहीं भूलते। उपकार को याद करके उनके योग्य सेवा-सत्कार करते हैं। अन्य के प्रति अपने किये उपकार को याद नहीं करते, एवं न उसके बदले की भी आशा रखते हैं।

17. तत्त्वज्ञ : तत्त्व के जानकार होते हैं। जैनधर्म का मुख्य तत्त्व क्या है ? उसको बराबर समझकर उसके प्रचार की भावना करते हैं। बुद्धि-अनुसार करणानुयोगादि सूक्ष्म तत्त्वों का भी अभ्यास करते हैं। धर्मी श्रावक, आत्मतत्त्व को तो जानते ही हैं, तदुपरान्त जैनशास्त्रों के अगाध, गम्भीर, श्रुतज्ञान में कहे हुए तत्त्वों को भी विशेषरूप से जानते हैं तथा विपरीत जीवों में तत्त्व की विपरीतता किस प्रकार से है ?-वह भी जानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

18. धर्मज्ञ : धर्म के जाननहार होते हैं। कहीं निश्चयधर्म की प्रधानता रहती है, कहीं व्यवहारधर्म की प्रधानता से वर्तना होता है।

www.vitragvani.com

इस तरह धर्म के सब मर्म को जानकर शासन की शोभा बढ़े और अपना हित हो – ऐसा वर्तन करते हैं। श्रावक धर्म क्या? मुनि का धर्म क्या? धर्म में, तीर्थों में, शास्त्रादि में तथा साधर्मी में दानादि की कब और कैसी आवश्यकता हैं, उस सम्बन्धी श्रावक को जानकारी होती है।

19. दीनतारहित तथा अभिमानरहित ऐसा मध्यस्थ व्यवहारी : धर्म का गौरव अच्छी तरह बना रहे तथा अपने को अभिमानादि न हो, इस प्रकार मध्यस्थ व्यवहार से प्रवर्ते। व्यवहार में जहाँ-तहाँ दीन न हो जाये; रोगादि प्रसङ्ग में या दरिद्रादि में घबड़ा कर ऐसी दीनता नहीं करते कि जिससे धर्म की निन्दा हो। अरे, मैं तो पञ्च परमेष्ठी का भक्त; मुझे दुनिया में दीनता कैसी? उसी प्रकार देव-गुरु-धर्म के प्रसङ्ग में, साधर्मी के प्रसङ्ग में अभिमान रहित नम्रता से प्रेम से वर्ते। साधर्मी की सेवा में तथा अपने से छोटे साधर्मी के साथ हिलमिलकर रहने में अपनी हीनता नहीं मानते। सन्तों के चरणों में चाहे जैसा दीन होकर भी यदि आत्महित होता हो तो वे उसके लिये तैयार है; उसमें अभिमान नहीं रखते और जिसमें आत्मा का हित न होता हो, ऐसे प्रसङ्ग में वे दीन नहीं होते; असत् के प्रति जरा भी नहीं झुकते, वहाँ अपने धर्म का स्वाभिमान रखते हैं। इस प्रकार न दीन न अभिमानी-ऐसे मध्यस्थ व्यवहारी श्रावक होते हैं।

20. सहज विनयवान : जहाँ विनय का प्रसङ्ग हो, वहाँ उनको सहज विनय आता है। देव-गुरु के प्रसङ्ग में, साधर्मी के प्रसङ्ग में, या बड़ों के प्रसङ्ग में योग्य विनय से वर्तन करते हैं। सम्यक्त्वादि गुणीजनों को देखते ही प्रसन्नता से विनय-बहुमान

www.vitragvani.com

-प्रशंसा करते हैं; किसी के प्रति ईर्षाभाव नहीं रखते। शास्त्र के प्रति, धर्मस्थानों के प्रति, एवं लोक-व्यवहार में भी विनय-विवेकपूर्वक योग्य रीति से वर्तते हैं; किसी के प्रति अपमान या तिरस्कारपूर्ण वर्तन नहीं करते।

21. पापक्रिया से रहित : कुदेव-कुगुरु के सेवनरूप मिथ्यात्वादि पापों का तथा माँसादि अभक्ष्य के भक्षणरूप तीव्र हिंसादि पापों का तो सर्वथा त्याग कर दिया है, तदुपरान्त आरम्भ -परिग्रह सम्बन्धी जो पापक्रियाएँ हैं, उन्हें भी छोड़कर निर्दोष शुद्ध जीवन के अभिलाषी हैं। अरे, ऐसा उत्तम जैनधर्म तथा ऐसा अद्भुत आत्मस्वरूप, उसे पाकर अब कोई पाप मुझे शोभा नहीं देता; इस प्रकार अव्रतजन्य पापों से अत्यन्त भयभीत रहते हैं। मेरे जीवन में कोई छोटा-सा भी पाप न हो, और वीतरागता से उज्ज्वल मेरा जीवन हो - ऐसी भावना रहती है।

इस प्रकार श्रावक इन पुनीत 21 गुणों के धारक होते हैं। मुमुक्षु को भी इनमें से प्रत्येक गुण के स्वरूप का विचार करके अपने में भी इन गुणों को धारण करना चाहिए; इससे जीवन पवित्रता से शोभायमान होगा। ●

वीतरागी सन्तों की ऐसी पुकार सुनकर...

स्वानुभूतिपूर्वक होनेवाला सम्यग्दर्शन तो मोक्ष का द्वार है; उसके द्वारा ही मोक्षमार्ग खुलता है। उसका उद्यम ही प्रत्येक मुमुक्षु का पहला कार्य है और प्रत्येक मुमुक्षु से हो सकता है।

www.vitragvani.com

उलझन और शान्ति

जगत में तेरे पापोदय से कोई प्रतिकूल स्थिति आ पड़े, मिथ्या और महा आक्षेप आवे, देह में रोगादि हों, अपमान आदि हों, तुझे असह्य उलझन होती हो, कषायें होती हों और तू शान्ति-समाधान चाहता हो... तो...

दूसरे किसी के आधार से, दूसरे किसी को प्रसन्न करके, दूसरे किसी की लाचारी करके, किसी के सामने खटपट या कषाय करके शान्ति और समाधान खोजने की अपेक्षा सीधे पहले तेरे ज्ञान की ही शरण में जाकर उससे पूछ कि हे ज्ञान! इतने प्रतिकूलता के दवाब के बीच तू मुझे शान्ति देगा? मैं तेरी शरण आया-तुझ पर रीझा-तो तू मुझे इन कषाय-प्रसङ्गों में से बचाकर, कषाय से मेरी रक्षा करेगा? और मुझे शान्ति देगा?

बस! इस प्रकार सबसे पहले तेरे ज्ञान से ही पूछकर देख और यदि तेरा ज्ञान तुझे शान्ति देने से इनकार करे, तभी फिर दूसरे के पास जाकर उसकी लाचारी करना... पहले से ही ज्ञान का विश्वास छोड़कर, अन्यत्र लाचारी करने मत जा। तेरा ज्ञान तुझे शान्ति देने से इनकार करेगा ही नहीं... क्योंकि ज्ञान तो महान, उदार, धीर और गम्भीर है। वह तुझे अवश्य समाधान देकर शान्त करेगा... तुझे अन्यत्र कहीं जाना नहीं पड़ेगा। ज्ञान का स्वभाव शान्ति देने का है; इसलिए ज्ञान से भिन्न बाहर में अन्य किसी की शरण मत खोज। ज्ञान का ही विश्वास करके निश्चिन्त बन जा। ●

www.vitragvani.com

दान

एक राजमाता ने अपने पुत्र से कहा—

बेटा! तेरे सामने एक बड़े पर्वत जितना धन का ढेर रखा जाये तो तू उसे कितने दिन में दान कर देगा?

तब पुत्र ने माता को तुरन्त ही जवाब दिया—

माँ! मैं तो एक मिनिट में ही वह सब दान दे दूँगा, परन्तु लेनेवाले उसे कितने दिन में ले जायेंगे, इसका मैं विश्वास नहीं दिला सकता।

दातार कितना महान है!

समस्त परिग्रह एक क्षण में छोड़ा जा सकता है... परन्तु उसका ग्रहण एक क्षण में नहीं होता। त्याग महान है। संसार का त्याग गिन-गिनकर क्या करना? एक साथ ही त्याग कर देना।

पानी बढ़े नाव में, घर में बढ़े दाम,
दोनों हाथ से उलेचीये, यही शयानो काम।

नाव में पानी भरता हो और घर में धन बढ़ता हो तो उसे दोनों हाथों उलेचने लगना-यह सुज्ञ पुरुषों का कर्तव्य है।

लक्ष्मी एकत्रित करके भण्डार में भर रखना, वह उसका सदुपयोग नहीं है परन्तु उत्तम कार्यों में उसे खर्च कर देना ही उसका सदुपयोग है। जैसे जीवन का सदुपयोग स्वानुभूति है, वैसे लक्ष्मी का सदुपयोग सुपात्र दान है। ●

www.vitragvani.com

पुण्य-पाप के सच्चे न्याय अनुसार कर्ता-कर्म के स्वरूप की सच्ची समझ

जो सम्यग्ज्ञान के न्याय से सच्चे कारण-कार्य को नहीं जानता, और जैसे-तैसे इन्द्रियज्ञान के द्वारा ही कर्ता-कर्म की या कारण-कार्य की मिथ्या कल्पना करता है, वह जीव, मिथ्या कल्पना से कैसी भयङ्कर भूल करता है? तथा सच्चा ज्ञान उसकी मिथ्या कल्पना का कैसा निराकरण कर देता है? यह आप इस लेख के दृष्टान्त तथा सिद्धान्त में देखेंगे।

एक बादशाह था। उसके गाँव में एक सेठ रहता था, वह नास्तिक जैसा था, परलोक को या पुण्य-पाप को नहीं मानता था।

उस सेठ के घर बालक का जन्म हुआ। बालक बहुत सुन्दर, एवं अत्यन्त कोमल शरीरवाला था।

एक बार सेठ अपने पुत्र को लेकर उत्साह से बादशाह के पास गया। बादशाह ने बालक को देखकर प्रसन्नता व्यक्त की परन्तु बालक का अत्यन्त कोमल रूप देखकर अचानक बादशाह की बुद्धि में परिवर्तन हो गया; माँसभक्षी बादशाह को उस बालक का माँस खाने की अभिलाषा हुई। अत: सेठ से कहा—सेठजी! अभी मुझे क्षुधा लगी है और इस बालक को काटकर उसके माँस खाने की भावना हुई है, अत: तुम यह बालक दे दो!

बादशाह की बात सुनते ही सेठ तो कम्पित हो उठे! अरे, यह क्या?—अरे! क्या इस इकलौते पुत्र को बादशाह खा जायेगा?-नहीं, नहीं; यह तो बहुत बुरा होगा। तुरन्त ही उसने बादशाह से कहा-नहीं, जहाँपनाह! यह नहीं हो सकता; यह कार्य आपको शोभा नहीं देता।

www.vitragvani.com

तब बादशाह ने कहा—देखो सेठजी ! पुण्य-पाप को या परभव को तो तुम मानते नहीं हो और जब मैं इस बालक को खाऊँगा, तब मेरी क्षुधा मिटकर मुझे साता होगी; तब फिर इसमें बुरा क्या हुआ ? यदि बुरा हो तो उससे मुझे दु:ख होना चाहिए था। उसके विरुद्ध इसमें तो मेरी भूख का दु:ख मिटता है !

बादशाह का यह कुतर्क सुनते ही सेठ तो दंग रह गया। वह गहरे विचार में डूब गया... उसकी आँखें खुल गयी; तत्क्षण वह नास्तिक से आस्तिक बन गया। यदि पुत्र को बचाना हो तो, पूर्वजन्म का, तथा पूर्वजन्म के पुण्य-पाप के फल का स्वीकार किये बिना अन्य कोई मार्ग ही नहीं रहा। अन्त में, जैनसिद्धान्त अनुसार सुने हुए तत्त्व का उसे स्वीकार करना पड़ा। उसने बादशाह से कहा—सुनिए जहाँपनाह ! मेरे पुत्र को खाने से आपकी भूख का दु:ख मिटेगा-यह बात आपकी सत्य नहीं है; जीव को सातारूप सुख अथवा असातारूप दु:ख, अपने-अपने पूर्वजन्मकृत पुण्य -पाप के अनुसार होता है; आप जो साता होने का कह रहे हो, वह साता, पुत्र के माँसभक्षण का जो तीव्र कषायभाव है, उसके फल में तो भयङ्कर आकुलता तथा भविष्य में नरकादि की अनन्त असाता आयेगी। अत: ऐसे तीव्र पाप परिणाम को आप छोड़ दीजिये।

हे बादशाह ! आपकी क्षुधा मिटती है, वह कहीं माँस के खाने से नहीं मिटती परन्तु उस प्रकार के साताकर्म के उदय से मिटती है; वर्तमान में माँस खाने का जो परिणाम है, वह तो महान पापरूप है, उसके फल में तो अशुभकर्म बँधेगा तथा महान दु:ख मिलेगा। पूर्वभव में जो पुण्य किया, उसका फल अभी दिखता है। कहीं वर्तमान पाप का यह फल, जीव भूत -भविष्य में नित्य रहनेवाला,

www.vitragvani.com

और अपने शुभ-अशुभ के फल का भोगनेवाला है। अत: हे बादशाह! आप दु:खदायक ऐसे पापभाव को छोड़ दो। सातारूप सुख का कारण-कार्य सम्बन्ध माँस भक्षण के साथ नहीं है परन्तु पूर्व के पुण्य के साथ है। पाप का फल तो दु:ख ही है। पाप के फल में कभी सुख नहीं होता। अत: वस्तु के कारण-कार्य देखने में आपकी भूल है।

बुद्धिमान बादशाह, सेठ की न्याययुक्त बात समझ गया, तथा पाप के फल से भयभीत होकर उसने माँस भक्षण का दुष्ट विचार छोड़ दिया।—देखो, यह जैनसिद्धान्त का प्रताप!

आईये! यह बात अधिक स्पष्ट समझने के लिये कुछ और दृष्टान्त लेकर विचार करें—

जैसे किसी चोर को चोरी करते हुए धन की प्राप्ति हो जाय, तो कहीं चोरी का तो वह फल नहीं है; तथा कसाई, गायों को कत्ल करे और उसे धन मिले; वह कहीं गायों के वध का तो फल नहीं है; वर्तमान चोरी-हिंसा के पापभाव के फल से तो जीव को महान दु:ख होगा। अभी जो धन मिलता है, वह तो पूर्व के पुण्य का बाह्य फल है।

❖ चोरी करना, कारण और धन की प्राप्ति उसका कार्य,

❖ हिंसा करना, कारण और धन की प्राप्ति उसका कार्य,

—यदि ऐसा कोई माने तो वह कारण-कार्य की भयङ्कर भूल करता है। सच्चे कारण-कार्य को वह नहीं जानता।

—उसी प्रकार—

भाषा का बोलना, हाथ-पैर का चलना, पुस्तक का खुलना

www.vitragvani.com

–बन्द होना, अक्षरों का लिखा जाना, रोटी का बनना–इत्यादि जो –जो क्रियाएँ आँख से देखने में आती हैं, वे सब जड़ के कार्य हैं, अचेतन हैं। अचेतन पदार्थ के वे कार्य, और जीव उनका कर्ता— ऐसा यदि कोई माने तो वे भी उपरोक्त दृष्टान्तों की तरह जीव-अजीव के कारण-कार्य सम्बन्ध में भयङ्कर भूल करते हैं।

हे भाई! किसी भी अचेतन कार्य में, कारणरूप से जीव हो— ऐसा हमको या तुमको किसी को दिखता तो नहीं है। क्या जीव को तूने उस अचेतन कार्य को करता हुआ कभी देखा है? जीव को तूने देखा तो नहीं; उसका अस्तित्व कैसा है–वह भी तू नहीं जानता, तब फिर जीव कर्ता हुआ—यह बात तू कहाँ से उठा लाया?

अरे, जिस वस्तु को तूने देखी ही नहीं, उसके ऊपर व्यर्थ झूठा आरोप क्यों देता है? यदि तूने जीव को देखा होता तो वह तुझे चेतनस्वरूप ही दिखता, और तब यह जीव, जड़ की क्रिया का कर्ता हो–ऐसा तू कभी नहीं मानता। अत: बिना देखे तू जीव पर अजीव के कर्तृत्व का मिथ्या आरोप मत लगा; यदि किसी के ऊपर मिथ्या आरोप लगायेगा तो तुझे बड़ा पाप लगेगा (–जैसे राजा ने माँस भक्षण से सुख होने का मानकर गलती की थी, वैसे तेरी भी गलती होगी)।

✧ ✧ ✧

किसी राजमहल में चोरी हुई... एक सज्जन जो कि राजमहल से बहुत दूर रहता है, राजमहल में जो कभी आया भी नहीं–फिर भी दूसरा कोई मनुष्य उसके ऊपर कलङ्क लगाता है कि चोरी का कर्ता यह सज्जन है!

www.vitragvani.com

—तो कलङ्क लगानेवाले से हम पूछते हैं कि हे भाई!

❖ क्या उस सज्जन को राजमहल में चोरी करता हुआ तूने देखा है ?.... ना।

❖ क्या उस सज्जन की सज्जनता को तू पहचानता है ?... ना।

❖ क्या उस सज्जन के पास में चोरी का माल तूने देखा है ?... ना।

अरे दुष्ट! जिस सज्जन को तूने चोरी करता हुआ देखा नहीं, जो सज्जन राजमहल में कभी आया नहीं, जिस सज्जन को तू पहचानता भी नहीं, और जिस सज्जन के पास में चोरी का कोई माल होने का सबूत नहीं है-ऐसे सज्जन के ऊपर चोरी का मिथ्या कलङ्क तू लगा रहा है-तो इससे तुझे महान पाप होगा।

उसी प्रकार—(यहाँ सज्जन अर्थात् चेतनरूप जीव)। अचेतन-जड़-पुद्गल के महलरूप यह शरीर, उसमें कोई कार्य हुआ, चलना-बोलना -खाना आदि क्रिया हुई; अन्य चेतनतत्त्व उससे अत्यन्त दूर अर्थात् सर्वथा जुदा रहता है, वह कभी पुद्गल में जाता ही नहीं-पुद्गलरूप होता नहीं, तो भी अज्ञानी उसके ऊपर कलङ्क -आरोप लगाता है कि जड़ की क्रिया का कर्ता जीव है!

—उस कलङ्क लगानेवाले से ज्ञानी पूछते हैं कि-हे भाई!

❖ क्या तूने जीव को जड़ की क्रिया करते हुए कभी देखा है ?.... ना।

❖ क्या तूने अतीन्द्रिय-अरूपी-चेतनमय जीवतत्त्व को पहचाना है ?.... ना।

❖ क्या जीव के अन्दर कभी पुद्गल की कोई क्रिया तूने देखी है ?.... ना।

www.vitragvani.com

तब फिर, अरे अज्ञानी! जिस जीवतत्त्व को जड़ का काम करते तूने कभी देखा नहीं, जिस जीवतत्त्व ने शरीर के पुद्गल के अन्दर प्रवेश भी नहीं किया, जिस जीवतत्त्व को तू पहचानता भी नहीं, और जिस जीवतत्त्व में अजीव का कोई निशान भी नहीं है—ऐसे निर्दोष सत् चैतन्यतत्त्व के ऊपर तू जड़-पुद्गल के साथ सम्बन्ध का मिथ्या आरोप लगाता है, तो इससे तुझे मिथ्यात्व का पाप लगेगा। चैतन्यतत्त्व को पर का कर्ता कहकर तू उसका अवर्णवाद कर रहा है, यह बहुत भारी अपराध है। अत: यह बात समझ ले कि—

—जैसे माँस खाना और साता होना—ये दोनों एक ही काल में होते हुए भी, दोनों के कारण-कार्य भिन्न-भिन्न हैं;

—जैसे गायों को काटना और पैसा मिलना, इन दोनों के कार्य-कारण भिन्न-भिन्न हैं।

— वैसे जड़ की क्रिया और ज्ञान की क्रिया—ये दोनों एक साथ होते हुए भी दोनों के कारण-कार्य सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं।

प्रत्येक वस्तु के सच्चे कारण-कार्य को जानो; जीव के कारण -कार्य को जीव में ही जानो तथा अजीव के कारण-कार्य को अजीव के मानो—ऐसा भेदज्ञान, वह जैनधर्म की उत्तम नीति है; उस जैननीति का पालन करनेवाला जीव, मोक्ष को साधता है; और जैननीति का उल्लंघन करनेवाला (अर्थात् जड़-चेतन के कारण -कार्य को भिन्न न मानकर एक-दूसरे में मिला देनेवाला) जीव, संसार की जेल में फँसकर दु:खी होता है। वीर मार्ग को पाकर जड़-चेतन का सर्वथा भेदज्ञान करो... और भव-दु:ख से छूटकर मोक्षसुख को पाओ। ●

www.vitragvani.com

आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव की अद्भुतता

इस विश्व में अनन्त जीव, अनन्त अजीव पुद्गल, उन प्रत्येक में अनन्त गुण-पर्यायों की विचित्रता का पार नहीं है। ऐसे विचित्र अनन्तानन्त ज्ञेय, उन सबका केवलज्ञान एक साथ पार पा जाता है; अनन्त द्रव्य हैं, अनन्त क्षेत्र है, अनन्त काल है और अनन्त भाव हैं-इन समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को, ज्ञान अपनी अचिन्त्य -अद्भुत परम सामर्थ्य से एक समय में राग-द्वेष के बिना जानता है-ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा है। उसकी प्रतीति करे तो ही सर्वज्ञ -अरिहन्तदेव का सच्चा स्वीकार हो सकता है, क्योंकि सर्वज्ञ का ऐसा ज्ञानस्वभाव प्रगट है-ऐसे केवलज्ञान की दिव्यमहिमा लक्ष्य में आने पर, उसके फल में अवश्य सम्यग्दर्शन होता है। केवलज्ञान की यह महिमा कहीं केवली भगवान को नहीं समझाते, परन्तु जिसे अपना हित करना है, जिसे आत्मा का स्वरूप पहिचानना है, ऐसे भव्य जीव को ज्ञान का शुद्धस्वरूप बतलाते हैं। उस स्वरूप को पहिचानते ही राग को उल्लंघन कर, वह जीव ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता द्वारा अद्भुत ज्ञान-श्रद्धानरूप से परिणमित होने लगता है। इसलिए यह सम्यग्दर्शन पाने की विधि है।

1- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, उसे राग की अद्भुतता नहीं लगती।

2- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, वह जिसमें से सर्वज्ञता आयी, उसमें जाता है।

3- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, वह राग से भिन्न पड़कर ज्ञानरूप हो जाता है।

www.vitragvani.com

4- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, उसे अपने चैतन्य का चमत्कार भासित होता है।

5- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, उसे जगत के किसी पदार्थ का आश्चर्य नहीं रहता।

6- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है।

7- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, उसे अपनी भव-अन्त की झनकार आ जाती है।

8- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, उसे ही अरिहन्त और सिद्ध की भक्ति होती है।

9- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, उसे अपना पूर्ण आत्मा प्रतीति में आता है।

10- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, उसने ही सर्वज्ञ की वाणी जानी है।

11- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, उसे ही मोक्षतत्त्व की श्रद्धा होती है।

12- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, वही सर्वज्ञ के मार्ग में आया है।

13- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, वही अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा कर सकता है।

14- जिसे सर्वज्ञता की अद्भुतता लगे, वही जितेन्द्रिय-जैन हो सकता है।

www.vitragvani.com

15- जिसे सर्वज्ञता की अद्‌भुतता लगे, वह जीव, सर्वज्ञ का पुत्र (साधक) हुआ।

16- अहो! सर्वज्ञता सुन्दर है, कल्याणरूप है, आनन्दकारी अनुपम और अद्‌भुत है!!

—ऐसी अद्‌भुत सर्वज्ञता, आत्मा का स्वभाव ही है-ऐसा इष्ट -उपदेश देकर भगवान महावीर ने भव्य जीवों पर महान उपकार किया है; इसलिए उनके मोक्ष के ढाई हजार वर्ष के इस भव्य महोत्सव प्रसङ्ग पर अत्यन्त ही भक्तिभावभीनी श्रद्धाञ्जलि हम अर्पण करते हैं।

जय महावीर

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व-जीवन

(मुमुक्षुओं द्वारा लिखित)

[सम्यक्त्व जीवन लेखमाला : लेखांक -9]

सम्यक्त्व के लिये मुमुक्षु जीव का जीवन कैसा होता है ? सम्यक्त्व की भावना करते-करते उसके अन्तर में कैसे भाव होते हैं ? तथा सम्यक्त्व होने के बाद कैसा सुन्दर उसका जीवन होता है ?—इस सम्बन्धी इन विविध लेखों का संकलन किया गया है; पहले के आठ लेख सम्यग्दर्शन-पुस्तक (गुजराती) के पाँचवें भाग में छप चुके हैं। तत्पश्चात् के दूसरे आठ लेख यहाँ दिये जा रहे हैं।

आत्मसन्मुख जीव को पहली ही चोट में राग के पोषक ऐसे कुदेव-कुगुरु का सेवन अन्तर से छूट जाता है, अर्थात् गृहीत मिथ्यात्व उसने छोड़ दिया है; और सच्चे देव-गुरु-धर्म, जो आत्मा की सत्य शान्ति का मार्ग दिखानेवाले हैं—वे उसको अतिशय प्रिय लगते हैं; अत: अपने ज्ञान में उनके स्वरूप का अच्छी तरह निर्णय करके उनका अनुसरण करने लगता है। नव तत्त्व के भावों को जैसा है, वैसा विचार में लाता है; शुभराग इत्यादि बन्धभावों को निर्जरा में नहीं गिनता; एवं उनसे सम्यग्दर्शनादि संवर-निर्जरा होने का नहीं मानता। नव तत्त्व जिस प्रकार है, उसी प्रकार ज्ञान में अच्छी तरह से जानता है।

उस जिज्ञासु की पाँचों इन्द्रियों के विषयों में से सुखबुद्धि घट जाती है और आत्मा के सुख का रंग लगता है। माँस-मधु -मदिरा-अण्डे को तो वह छूता भी नहीं, और जुआ-सिनेमा-

www.vitragvani.com

रात्रिभोजन आदि के तीव्र पाप से भी वह दूर रहता है। अरे, जिसमें शान्ति की गन्ध भी नहीं, ऐसे निष्प्रयोजन पापकार्य, उस शान्ति के चाहक जीव को कैसे अच्छे लगें? उसको सत्समागम, वीतराग का पूजन-भक्ति, आत्मशान्ति के प्रतिपादक ग्रन्थों का पठन-मनन इत्यादि में रस आता है। उसमें जो शुभपरिणाम होता है उसे, तथा उस समय के ज्ञानरस के घोलन को वह भिन्न-भिन्न पहचानता है और उनमें से राग के भाग को वह धर्म का साधन नहीं मानता। राग से रहित ज्ञानरस कैसा है, वह ज्ञानी से एवं शास्त्र से समझकर अपने वेदन से उसका निर्णय करता है।

ज्ञानी की अनुभूति के अनुसार भेदज्ञान के अभ्यास से बारम्बार अपने निर्णय को घोलन करता है, उसका रस बढ़ता जाता है और बाहरी अन्य बातों का रस कम होता जाता है। इस प्रकार उसे मोह का जोर टूटता जाता है और ज्ञान का जोर बढ़ता जाता है। इस तरह अपने परिणाम को अन्य कार्यों से निवृत्त कर-करके अन्तर में भेदज्ञान की स्फूरणा करता जाता है। जैसे कि मैं एक शुद्ध ज्ञायक हूँ; मेरे ज्ञायकतत्त्व की परिणति भी ज्ञानरूप है, उसमें द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म नहीं हैं। मैं असंख्यप्रदेशी अपने अनन्त गुण से पूर्ण स्वतन्त्र हूँ; मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से मैं परिपूर्ण हूँ, और अन्य वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तथा परद्रव्य सभी स्वतन्त्र हैं, अत: परद्रव्य में मैं कुछ नहीं कर सकता, एवं परद्रव्य मेरे में कोई लाभ-नुकसान नहीं कर सकते; ऐसी समझ के कारण उसे पर के प्रति निरपेक्षवृत्ति होती है, अत: पर में राग-द्वेष या क्रोध-मानादि कषाय का रस बहुत कम हो गया है। बाहर के कार्यों में उसे हठाग्रह नहीं रहता, अपितु वह

www.vitragvani.com

समाधान कर लेता है; इसलिए उसे आकुलता भी कम होती है; अपनी शक्ति को वह चैतन्य की ओर ही केन्द्रित करने के लिये प्रयत्नशील है।

इस प्रकार ज्ञानी के द्वारा जानकर, बारम्बार अभ्यास के द्वारा आत्मा की महिमा दृढ़ करता जाता है। और फिर उसके ही ध्यान में एकाग्रता से आत्मा का बारम्बार अभ्यास करते-करते आत्मा में लीन होने की उत्सुकता जगती है। अन्य सभी विकल्पों से दूर हटकर एक अपने आत्मा सम्बन्धी चिन्तन में गहराई से उतरता है। अभी गुण-गुणी भेद के विकल्प हैं किन्तु उस विकल्प से जुदा ज्ञान लक्ष्य में लिया है। इसलिए विकल्प में अटकना नहीं चाहता परन्तु विकल्प से भिन्न पार ज्ञान का स्वाद लेना चाहता है। इस प्रकार वह जीव ज्ञानस्वभाव के आँगन में आया है। अभी तक निर्विकल्प स्वसंवेदन नहीं हुआ है, फिर भी स्वभाव में जाने के लिये पुरुषार्थ तैयार होने लगा है। राग की तुलना में ज्ञान का जोर बढ़ता जाता है। बारबार ऐसा पुरुषार्थ करते-करते आत्ममहिमा का चैतन्यरस जब अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचता है, तब उसका उपयोग सूक्ष्म विकल्प से भी यकायक भिन्न होकर, इन्द्रियातीत अन्तरस्वभाव में अभेदरूप हो जाता है अर्थात् निर्विकल्प हो जाता है। ऐसी निर्विकल्प अनुभवदशापूर्वक भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है, तब उसके साथ ही कोई अपूर्व आनन्द और अपार शान्ति का वेदन होता है। बस, यहीं से जीव मोक्षमार्ग में प्रविष्ट हो जाता है॥

अहा, यह दशा धन्य है.... कृतकृत्य है।
ऐसी दशावाले आराधक जीव वन्दनीय है॥

www.vitragvani.com

अब सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् उसका वर्तन तथा विचारधारा किस प्रकार की होती है, वह देखते हैं

जब जीव को सम्यग्दर्शन होता है, तब पूर्व में किसी समय न आया हो, ऐसा अपूर्व आनन्द प्रगट होता है। आत्मा का अनुभव होने पर अपने को और पर को बराबर भिन्न जानता है और अपने पर से भिन्नपने की प्रतीति उसे चौबीसों घण्टे रहती है। वह जगत के परज्ञेयों को भी पहले की अपेक्षा अपूर्व रीति से देखता है, क्योंकि पर को वास्तव में पररूप पहले कभी नहीं जाना था; अब पर में मेरेपन की भ्रान्ति मिट गयी है; इसलिए पर को जानते हुए उससे विरक्त रहता है; वह परभाव का कर्ता नहीं होता परन्तु उससे भिन्न चेतना द्वारा ज्ञाता ही रहता है। चैतन्यसुख का स्वाद चख लिया होने से, अब पर में कहीं सुखबुद्धि या इष्टपने की बुद्धि स्वप्न में भी नहीं होती। वह स्वसमय और परसमय को भलीभाँति अनुभव -सहित भिन्न जानता है। उसे केवलज्ञान का बीज प्रगट हो गया है, अतीन्द्रिय आनन्द का अंकुर भी उगा है; उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण आत्मा का स्वीकार हो गया है; उसे अनन्त गुणों के निर्मल अंश से भरपूर अनुभूति निरन्तर वर्तती है। अभी जितनी अपूर्णता या राग-द्वेष बाकी है, उन्हें भी ज्ञानी स्वयं का अपराध जानता है। राग को जानने पर भी ज्ञान, राग से भिन्न ही रहता है। उसका बाह्य वर्तन यथापदवी होता है। जैसे कि वीतराग परमात्मा तथा निर्ग्रन्थ गुरुओं के स्वरूप की पहिचान, उनका बहुमान, जिनवाणी का स्वाध्याय, धर्मात्मा-साधर्मियों के प्रति प्रेम, बारम्बार आत्मस्वरूप का मनन उसे होता है तथा गृहकार्य और व्यापार-धन्धा या राजपाट इत्यादि

www.vitragvani.com

सम्बन्धी बाह्य कार्यों में भी जुड़ा हुआ होता है, उस सम्बन्धी अशुभपरिणाम भी होते हैं-परन्तु उनमें अनन्त रस नहीं होता। बाहर के कार्य तो अज्ञानी के तथा सम्यग्दृष्टि के स्थूलरूप से समान लगते हैं परन्तु अन्तर के अभिप्राय में तथा परिणाम के रस में उन दोनों में अत्यन्त ही अन्तर होता है।

अज्ञानी को चैतन्यसुख के स्वाद की तो अनुभूति हुई नहीं, इसलिए कहीं अन्यत्र वह सुख मानता है, और जहाँ सुख मानता है, वहाँ आत्मबुद्धि करता ही है। इसलिए अज्ञानी—देह वह मैं, पर के कार्य मैं करता हूँ तथा पर में से सुख आता है—ऐसा भ्रम से समझता है, परन्तु ज्ञानी को वह भ्रम सर्वथा छूट गया होने से उसके अन्तरङ्ग आचरण में एक बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया होता है, जो कि बाह्यदृष्टि से दृष्टिगोचर नहीं होता।

ज्ञानी को स्वरूप के अस्तित्व का और उसमें पर की नास्ति का भलीभाँति ज्ञान होने से वह अपने को अपनेरूप और पर को पररूप यथावत् जानता है; इसलिए पर के साथ एकत्वबुद्धि का बन्धन तो उसे होता ही नहीं। चारित्र-अपेक्षा से जितने राग-द्वेष हैं, उतना बन्धन होता है परन्तु वह अल्प है, उससे अनन्त संसार नहीं बढ़ता। जबकि अज्ञानी को शुभभाव होता हो, तो भी उस राग से भिन्न चैतन्य को न जानता होने से उसे मिथ्यात्व के कारण अनन्त संसार खड़ा है।

चौथे गुणस्थान में जीव को एक बार शुद्धोपयोगपूर्वक स्वरूप का वेदन हो गया है, वह उसे विस्मृत नहीं होता और बारम्बार वैसे निर्विकल्प उपयोग के लिये उसे भावना रहा करती है तथा कब

www.vitragvani.com

संसार से विरक्त होकर मुनि होऊँ और स्वरूप में ही लीन होकर पूर्ण सुखमय बन जाऊँ—ऐसी अन्तरङ्ग भावना निरन्तर होती है। सर्वज्ञस्वभाव का और वस्तु में क्रमबद्ध परिणमन का भी उसे भलीभाँति निर्णय वर्तता है। जहाँ तक पूर्ण पद प्राप्त न हो, तब तक भेदज्ञान चालू है और पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत की है, उसकी साधना चालू है, वह थोड़े ही समय में पूर्ण पद को अवश्य पायेगा ही।

— यह सम्यग्दर्शन का प्रताप है।

जय सम्यग्दर्शन

www.vitragvani.com

आत्मा को जाने बिना सब निष्फल है

[सम्यक्त्वजीवन लेखमाला : लेखांक 10]

आत्मा सम्यक्त्व के बिना सब निष्फल है—ऐसा समझकर जिज्ञासु जीव, आत्मा की पहिचान में रस लेता है। अन्तर में परम स्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा के सन्मुख होने पर ही परमतत्त्व की प्राप्ति होती है, और आनन्द का खजाना अपने में ही दृष्टिगोचर होता है।

जड़ शरीर के अङ्गभूत इन्द्रियाँ, वे कहीं आत्मज्ञान की उत्पत्ति का साधन नहीं होती। अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव को ध्येय बनाकर जो ज्ञान होता है, वही आत्मा को जाननेवाला है—ऐसे ज्ञान की अनुभूति से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाने पर मुमुक्षु को अपना आत्मा सदैव उपयोगस्वरूप ही जानने में आता है।

सम्यग्दर्शन होने के पहले जिज्ञासु को जिनमार्ग के देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा होती है, और व्यवहारधर्म का आराधन अपनी समझ के अनुसार वह करता है; जिनपूजा-दया-दान-स्वाध्याय इत्यादि में वह रस लेता है परन्तु जब उसे ज्ञानी-गुरु का उपदेश प्राप्त होता है और खबर पड़ती है कि आत्मा के सम्यग्दर्शन के बिना यह सब मोक्ष के लिये कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं, तब उसे सम्यक्त्व की भावना जागृत होती है, और वह आत्मा की समझ में रस लेता हुआ उसे साधने का प्रयत्न करने लगता है। उसे देव-गुरु-धर्म के सत्य स्वरूप की, पहचान होने लगती है; व्यवहारिक धर्म की प्रवृत्ति का रस धीरे-धीरे छूटता जाता है, और उसके मन का झुकाव निश्चयधर्म की ओर ढलने लगता है; तब पञ्च परमेष्ठी के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्याय से पहचानकर, उनके जैसे अपने

www.vitragvani.com

आत्मस्वरूप को जानने की जिज्ञासा रहती है; और उसे जानने के लिये अपने समस्त उद्यम को उसी दिशा में जोड़ता है। किसी भी उपाय से आत्मस्वरूप के ज्ञान का सम्पादन करना—ऐसा जो जिनवाणी का उपदेश है, उसमें वह रस लेने लगता है:—

'तास ज्ञान की कारन स्व-पर विवेक बखानो;
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनो।'

मेरा आत्मा किस प्रकार अपने धर्मस्वरूप होवे, मुझे सम्यग्ज्ञान -सम्यग्दर्शन तथा आत्मशान्ति कैसे प्राप्त हो?—उसी का रटन रहता है। स्वसन्मुख होकर आत्मा को प्रत्यक्ष किये बिना, बाहर का अभ्यास जीव ने अनन्त बार किया, और व्यवहारधर्म में सन्तोष कर लिया है; परन्तु आत्मा की प्रत्यक्षता के बिना अकेला बाहरी ज्ञान, वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है; अत: जब तक मेरा आत्मा मेरे प्रत्यक्ष वेदन में न आवे, तब तक मैंने सचमुच कुछ जाना ही नहीं है; इस प्रकार जीव को जब तक अपना अज्ञानपन न दिखे, तथा अन्य परलक्ष्यी जानकारी में अपनी अधिकता मानकर सन्तुष्ट हो जाए, तब तक आत्मा की अनुभूति का सत्यमार्ग जीव को प्राप्त नहीं होता।

अन्तर में परमस्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा है, उसकी सन्मुख होने से ही परमतत्त्व की प्राप्ति होती है और मोक्षमार्ग खुलता है। आत्मा की सम्मुख देखे बिना, अर्थात् स्वसंवेदन किये बिना, अज्ञानदशा में ऊँचे से ऊँचे शुभभाव भी जीव ने किये, अनेक शास्त्रों का पठन भी किया, किन्तु इससे आत्मकल्याण का मार्ग जरा भी प्राप्त नहीं हुआ—

www.vitragvani.com

अब क्यों न विचारत है मन से,
कछु और रहा उन साधन से!

ज्ञान को परविषय से भिन्न करके स्वविषय में लगावे, तभी मार्ग की सच्ची आराधना होती है। इन्द्रियज्ञान के व्यापार में ऐसी ताकत नहीं है कि आत्मा को स्वविषय बना करके जाने। आत्मा स्वयं परमात्मा है, उसे अपना ज्ञान करने के लिये इन्द्रिय की या राग की कुछ भी अपेक्षा नहीं है। इसलिए श्रीगुरु कहते हैं कि आत्मा पामर नहीं है परन्तु प्रभु है। यह आत्मा ऐसा नहीं है कि जो इन्द्रियज्ञान से अनुभव में आ जाय। ज्ञान जब इन्द्रिय का आलम्बन छोड़कर स्वालम्बी होता है, तब आनन्द का भण्डार आत्मा में ही दिखता है। वह स्वयं अपने स्वभाव के अवलम्बन से जिस ज्ञानरूप परिणमता है, वह ज्ञान ही मोक्ष को साधनेवाला है। ये इन्द्रियाँ तो देह के अङ्गभूत हैं, वे कहीं आत्मा के ज्ञान की उत्पत्ति का साधन नहीं हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी आत्मा है, उसे साधन बनाकर जो ज्ञान हो, वही आत्मा को जानता है। पुण्य-पाप उसका स्वरूप नहीं है; राग की रचना, आत्मा का कार्य नहीं है। आत्मा का सत्य कार्य (अर्थात् परमार्थ लक्षण) तो ज्ञानचेतना है। उस चेतनास्वरूप से अनुभव में लेने से ही आत्मा सत्यस्वरूप से अनुभव में आता है। ऐसे आत्मा को स्वानुभूति में लेने से ही जीव को सम्यग्दर्शन / धर्म होता है।

सम्यग्दर्शन होने के बाद मुमुक्षु को आत्मा सदैव उपयोगस्वरूप ही दिखता है; वह अपने उपयोग को कभी जड़रूप या रागरूप नहीं मानता। उसका उपयोग बाहर से नहीं लाया जाता, परन्तु

www.vitragvani.com

आत्मा स्वयमेव उपयोगरूप है—इस प्रकार राग से पार जो उपयोग काम करता है, वही आत्मा का परमार्थ लक्षण है।

सम्यग्दृष्टि जानते हैं कि रागादि भाव मेरे उपयोग से विरुद्ध स्वभाववाले हैं; जड़-चेतन का सत्य पृथक्करण उनकी समझ में आ चुका है, और अपना सत्यस्वरूप सदा उपयोगस्वरूप ही दिखता है। उन्हें ज्ञान और राग की भिन्नता का यथार्थ निर्णय होता है, और उस निर्णय में नव तत्त्वों की परमार्थ श्रद्धा भी आ जाती है।

उस सम्यग्दृष्टि को चैतन्यस्वरूप से परिपूर्ण अपने आत्मा में सावधानी होती है; उसकी परिणति का उत्साह निजस्वरूप की ओर ढलता है। अब कोई राग या परद्रव्य अपने स्वरूप के साथ एकत्वरूप उसे नहीं दिखता। ऐसा भेदज्ञान भी सम्यग्दर्शन के साथ में ही होता है, एवं आत्मा के आनन्दमय स्वभाव का अनुभव भी हो जाता है। अहा, यह कोई अपूर्व कृतकृत्यदशा है।

ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन होने के बाद, जो अल्प राग शेष रह जाय, उसके कारण इस जीव को कदाचित एक-दो कोई उत्तम भव करना पड़े, तो भी उन भव में उन्हें चैतन्य की आराधना का अपूर्व सुख रहा करता है; तथा संयोगरूप से बाह्य में भी उन्हें विशिष्ट उत्तम पुण्य का योग बनता है, फिर भी वे उसके स्वामी नहीं होते। वे जानते हैं कि ये पुण्य के ठाट तो विकल्प का फल है। ज्ञान को और विकल्प को आपस में कारण-कार्यभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव आनन्दमय है। आनन्द की पर्याय, पुण्य से नहीं होती; परवस्तु या रागभाव कारण होकर के आत्मा को आनन्द नहीं दे सकते। मेरा आत्मा स्वयं ही स्वाधीनरूप से साधन होकर, अन्य

www.vitragvani.com

किसी की सहाय के बिना ही, अपने अतीन्द्रियज्ञान तथा आनन्दरूप कार्य करने की सामर्थ्यवाला है। मेरे इस स्वाभाविक कार्य में मुझे अन्य किसी के अवलम्बन की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार अपनी निजशक्ति के विश्वास से सावधान होकर आत्मसाधना करते-करते वे बन जाते हैं-परमात्मा! यह सब प्रताप है, सम्यक्त्व का!

जो पूरव शिव गये जाय अरु आगे जै हैं,
सो सब महिमा ज्ञानतनो मुनिराज कहे हैं।

www.vitragvani.com

जिज्ञासु का प्रथम कर्तव्य

आत्मतत्त्व का निर्णय

[सम्यक्त्व जीवन लेखमाला, लेखांक : 11]

आत्मिकसुख कहो या सम्यग्दर्शन कहो, जीव को वह इष्ट है। सुख जिसमें भरा है—ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप का सच्चा निर्णय ज्ञान के द्वारा करना, यही सम्यक्त्व की रीति है। जिसने ऐसा निर्णय किया, वह पात्र हुआ और उसे अन्तर में आत्म-अनुभव होगा ही होगा।*

अहो, वीतरागी सन्तों ने आत्महित का जो वीतरागी सत्य मार्ग दिखलाया, उस मार्ग पर चलनेवाले धर्मात्माओं की विचारधारा तथा रहन-सहन तो कोई अलौकिक अद्‌भुत होता है; और जहाँ उस मार्ग को पाने की सच्ची जिज्ञासा जागृत होती है, वहाँ भी जीव के भावों में कोई आश्चर्यकारी परिवर्तन होने लगता है, और मुमुक्षु जीवन में उसे नये-नये भावों का वेदन होता है।

❖ सम्यक्त्व के जिज्ञासु को पहले यह प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन क्या चीज है ?

अपने शुद्धात्मस्वरूप की अनुभवसहित प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है।

❖ फिर तुरन्त प्रश्न यह होता है कि ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे हो ?

प्रथम तो जिस जीव के अन्तर में आत्मा की सच्ची मुमुक्षुता होती है, वह ज्ञानी के सङ्ग से ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की अगाध

* यह अंश आत्मधर्म से लिया है। —सम्पादक

www.vitragvani.com

महिमा जानकर लक्ष्य में लेता है, और फिर बार-बार उसके अभ्यास से परिणाम को उसमें लगाकर, अन्तर्मुख उपयोग के द्वारा उसके अनुभवसहित उसका सत्य दर्शन करता है—यही सम्यग्दर्शन है।

यह सम्यग्दर्शन मोक्षनगरी में जाने के लिये शीघ्रगामी वाहन है, कर्मरज के गंज को ऊड़ा देनेवाला महा पवन है, और भव के वन को भस्म करने के लिये अग्नि समान है; मुमुक्षु का यह एक मनोरथ है।

अहा, सर्वज्ञ तीर्थङ्करों ने जिसकी महिमा दिव्यध्वनि के द्वारा प्रसिद्ध की है, वह भगवान आत्मा शुद्ध चिद्रूप, सर्व तीर्थों में उत्तम तीर्थ, सुख का महान खजाना और सबसे सुन्दर तत्त्व है।

—ऐसे अचिन्त्य अद्भुत आत्मतत्त्व का ज्ञान होते ही परिणाम शीघ्र स्वोन्मुख हो जाता है—क्षणभेद भी नहीं रहता। जहाँ ज्ञान स्वोन्मुख हुआ, वहाँ श्रद्धा इत्यादि अनन्त गुण भी अपने अपने निर्मलभावरूप से खिल उठे। वाह! आत्मबाग खिल उठा... और अनन्त गुणों के शान्तरस का एक साथ कोई अतीन्द्रिय निर्विकल्प अत्यन्त मधुर स्वाद अनुभूति में आया... उसका नाम है सम्यग्दर्शन!

इस प्रकार जब पूर्णस्वरूप के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन हुआ, तब मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हुआ; पूर्णता के लक्ष्य से जो प्रारम्भ हुआ, वही वास्तविक प्रारम्भ है। मोक्षमहल का प्रथम सोपान यह सम्यग्दर्शन है।

अहा! जिसकी सन्धि परमात्मपद के साथ है—ऐसी ज्ञानदशा तथा ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पूर्व मुमुक्षु को आत्मा की ओर

www.vitragvani.com

झुकती हुई अद्‌भुत धारा बहने लगती है, और आत्म-सन्मुखी विचारधारा के बल से उसका वर्तन भी उसी के अनुकूल होती है। उसकी सभी रहन-सहन में आत्मघुन की धाराएँ अविरत बहती हैं। उसकी धारा का प्रवाह आत्माभिमुख बहता है। भूमिका -अनुसार शुभ-अशुभपरिणाम होते हैं, उसके बीच भी आत्मा की धुन अटूट रहती है; उसको आत्मा की सच्ची आवश्यकता लगी है, इसलिये बीच में अन्य कोई भावों का रस मुख्य नहीं हो पाता। अन्य सभी रसों को गौण बनाकर आत्मरस को मुख्य करता जाता है।

अनुभवदशा के पूर्व जीव को अनेक प्रकार से आत्मस्वरूप का बल और उसकी महिमा सम्बन्धी विचार उठते हैं। उसमें विकल्प की मुख्यता नहीं होती; विकल्प से वह दूर हटता जाता है और आत्मा की गहराई में उतरता जाता है। जैसे-जैसे ज्ञान गहरा उतरता जाता है, वैसे-वैसे चैतन्यभाव की अधिक-अधिक महिमा दिखाई देती है, और उस प्रकार की शान्ति का वेदन होता है। शान्ति के दिखने से उसमें उसकी चाहना बढ़ती जाती है और इस चाहना की पराकाष्ठा होने पर वह जीव निर्विकल्प अनुभूतिरूप परिणत हो जाता है। इसलिए ज्ञानी, आत्मस्पर्शी भाव से कहते हैं कि 'हे जीव! तू आत्मा में रुचि लगा!'

मैं सबको देखनेवाला, फिर भी सबसे भिन्न; विकल्प को जाननेवाला, फिर भी स्वयं निर्विकल्प—ऐसे भेदज्ञान के भाव का घोलन उसे रहा करता है।

जो दृष्टा है दृष्टि का, जो जानता है रूप।
अबाध्य अनुभव जो रहे वह है जीवस्वरूप॥

www.vitragvani.com

आँखों से किसी वस्तु को देखा, फिर आँखें न हों तो भी वह ज्ञान कायम ही रहता है, क्योंकि जाननेवाला आँख से भिन्न है। विकल्पों कम करते-करते भी आत्मा को बाधा नहीं आती, विकल्प छूट जाने पर भी आत्मा अबाधस्वरूप कायम रहता है। इस प्रकार मैं विकल्प से पार चैतन्यस्वरूप जीव हूँ—ऐसे वह अपने निजस्वरूप को लक्ष्य में लेता है।

इस प्रकार मुमुक्षु ने अपना शुद्धस्वरूप जैसा है, वैसा अपनी दृष्टि में लिया है। वह अपने शुद्धस्वरूप को पहचानकर स्व में ही एकत्वरूप अनुभूति करता है; उसको पर के साथ जरा भी सम्बन्ध नहीं है; वह पर को जानता हुआ भी, उसमें एकत्वरूप परिणत नहीं होता; अपने आत्मा को जानते हुए उसमें एकत्वरूप से परिणत होता है। इस प्रकार पर से विभक्त और स्व में एकत्वस्वरूप उसका 'ज्ञायक-जीवन' है।

ज्ञानी होने के लिये प्रथम, मुमुक्षु जीव को आत्मा के आदर्शस्वरूप सिद्ध भगवान और अरिहन्त भगवान लक्ष्य में आता है। मैं उनके सदृश हूँ—इस प्रकार शुद्धदृष्टि से वह आत्मा की भावना भाता है। और वैसी ही दशा प्रगट करने की भावना उसे आयी है। पूर्णता के लक्ष्य से वह प्रारम्भ करता है। अपनी सर्वत: शुद्ध मोक्षदशा की भावना, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सर्व प्रकार से स्वयं शुद्धरूप बनने की भावना ज्ञानी जीव को होती है। द्रव्य-गुण जैसे शुद्ध हैं, वैसी शुद्धता के अंश का अपनी पर्याय में आस्वादन किया है, और वह कब पूर्ण हो—ऐसी भावना उसे होती है। भले ही पर्याय के भेद-विकल्पों को हेय कहा जाय, परन्तु

www.vitragvani.com

पर्याय में शुद्धता होना, आनन्द होना, वह तो उपादेय है। मुमुक्षु की आत्मा की भावना में, उसकी महिमा में, उसकी शुद्धि की भावना में ज्ञान और राग की भिन्नता का अभ्यास होता जाता है। चारों ओर से ज्ञान और राग की भिन्नता देखता है। राग और ज्ञान की भिन्नता उसके वेदन में आती जाती है और उसके अन्तर में ऐसी चोट लग जाती है कि रागादिभाव ज्ञान से विरुद्ध भासते हैं; उन रागादि में उसको कहीं भी जरा-सी भी शान्ति मालूम नहीं होती; वह राग की अशान्ति में से किसी भी प्रकार बाहर निकलने का प्रयत्न करता है... एवं चैतन्य की शान्ति का बारबार रटन करता है। अभी विकल्प होते हुए भी वह विकल्प में नहीं झूलता परन्तु ज्ञानरस में ही झूलता है; और चैतन्यरूप स्ववस्तु को ग्रहण करके ज्ञान को निर्विकल्प कर डालता है, तब समग्र जगत का सम्बन्ध टूटकर आत्मा विश्व के ऊपर तैरता है। जगत से भिन्न स्वयं अपने में रह जाता है—इसका नाम है आत्म-अनुभूति; इसका नाम है—सम्यग्दर्शन!

पहले मुमुक्षु जीव ने विचारधारा में भी राग से भिन्न आत्मा का निर्णय किया है; परलक्ष्य से होनेवाले रागादिभाव मेरा स्वरूप नहीं है; उससे भिन्न प्रकार का ज्ञानस्वभावी मैं हूँ।

ज्ञानी ज्ञानभाव में राग का वेदन करता ही नहीं; राग से भिन्न ज्ञानभाव का ही वेदन करता है। राग स्वयं दुःख है, उसमें से सुख कैसे प्राप्त हो? और उसमें ज्ञानी को एकत्वबुद्धि कैसे हो? राग से ज्ञान की भिन्नता का वेदन करते होने से ज्ञानी, राग को नहीं करता; ज्ञानी की ऐसी पहचान के द्वारा यह जीव अपने भावों में भी ज्ञान

www.vitragvani.com

और राग को भिन्न करके भेदज्ञान करता जाता है, और उसे आत्मा का स्वरूप केवल ज्ञान और आनन्दमय ही भासता है। चैतन्यवस्तु के वेदन में राग कहाँ से हो ? ऐसा वास्तविक निर्णय किया, तब फिर राग और ज्ञान को भिन्न होने में कितनी देर ? अन्दर में निर्विकल्प होकर, चैतन्यतत्त्व में उपयोग लगाने पर, रागविहीन अतीन्द्रिय आनन्दमय परिणमन हो जाता है। अहा! आत्मा अपूर्व भावरूप हो जाता है।

चैतन्यभाव में तद्रूप अनन्त शक्ति के मंथन द्वारा आत्मा की अगाधता में-गहराई में पहुँचकर मुमुक्षु चैतन्यतत्त्व को ग्रहण कर लेता है और परभावों से अलग पड़ जाता है। ज्ञान-दर्शन-आनन्द -प्रभुता आदि अनन्त शक्ति का पिण्डस्वरूप मेरा शुद्धतत्त्व है; वह ज्ञान-दर्शन आदि किसी भी गुण में राग के साथ तन्मयरूप नहीं है। ऐसी अनन्ती शक्ति के अभेद एक पिण्डरूप चैतन्यमात्र स्वतत्त्व ही मैं हूँ—इस प्रकार धर्मी, श्रद्धा में लेकर अनुभूति करता है।

अहो! ज्ञान और आत्मा—ऐसे गुण-गुणी भेद का द्वैत भी जिस अनुभूति में नहीं रहता, उस निर्विकल्प अनुभूति की शान्ति की क्या बात ? अनन्तगुण की निर्मलतासहित एकरूप वस्तु अनुभूति में प्रकाशमान है।

इस प्रकार सभी तरह से अपने आत्मस्वरूप की सन्मुखता के परिणाम मुमुक्षु को होते हैं; अगाधा महिमा से भरपूर आत्मस्वरूप की सन्मुखता के सिवाय बहिर्मुख अन्य कोई भी उपाय सम्यग्दर्शन के लिये नहीं है, नहीं है, नहीं है।

ज्ञानी होने के पूर्व अभ्यास के प्रारम्भ काल में जिज्ञासु जीव

www.vitragvani.com

को ऐसा लगता है कि अरे, ऐसे विकल्प किसलिए? परन्तु फिर विचार को अन्तर्मुख करके आत्मा को खोजने पर उसे ख्याल में आता है कि अहा! इस विकल्प के समय भी विकल्प को जाननेवाला 'मेरा ज्ञान' विकल्प से भिन्न कार्य कर ही रहा है। वह ज्ञान 'विकल्प मैं नहीं हूँ, ज्ञान ही मैं हूँ।'—ऐसा बंटवारा करता है; इसलिए उसे विकल्प भी ज्ञानस्वभाव के रस के जोर से धीरे-धीरे क्षीण होते जाते हैं और अन्ततः ज्ञान का झनझनाहट करती ऐसी घटिका आ जाती है कि (समयमात्र में) धड़ाम से विकल्प को पार करके उपयोग का निज शुद्धस्वरूप में मिलन हो जाता है। बस! यही है अनुभव-दर्शन! यही है सम्यक्त्व की अपूर्व घड़ी! यही है मोक्ष के सुख का मङ्गल प्रारम्भ!!

ऐसा अनुभव कौन करता है?

आत्मा स्वयं ही कर्ता होकर अपनी सम्यक्त्वादि पर्याय को करता है—ऐसा उसका कर्तास्वभाव है। अनुभव में विकल्परहित निर्मलपर्याय भी सहजभाव से प्रगटती है, ऐसा आत्मा का पर्यायस्वभाव है। अतः उसका कर्ता तो आत्मा स्वयं ही है। हाँ, अनुभूति करते समय "मैं निर्मलपर्याय करूँ अथवा निर्मलपर्याय मेरा कार्य"—ऐसा कर्ता-कर्म भेद का कोई विकल्प या विचार जीव को नहीं होता। उस वक्त तो कर्ता-कर्म-क्रिया के भेद से पार होकर आत्मा अपने एकत्व में ही झूमता है... सत्मात्र अनुभूति होने पर भी, उसमें अनन्त गुण की गम्भीरता भरी हुई है, अनन्त गुण के स्वाद का एक साथ उसमें संवेदन होता है। अहा! कैसा कल्पनानीत स्वाद होगा वह!! वाह! स्वानुभवी सन्तजन ही उसे जानते हैं—

www.vitragvani.com

वचन से वह अवर्णनीय है; वेदन में आता है, परन्तु वाणीगम्य नहीं होता।

जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब;
उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहे?
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब॥

—ऐसा आत्मस्वरूप धर्मीजीव को चतुर्थगुणस्थान में ज्ञान में अनुभवगोचर (स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष) हो गया है; वाणी में भी जो न आ सका, वह उसके वेदन में आ गया है। वाह रे वाह! धन्य है वह दशा! धन्य है वह जीव!! चैतन्य के अगाध चमत्कार का उसने साक्षात्कार कर लिया है; उसने अपने अन्तर में परमात्मा का दर्शन कर लिया है।

'आत्मा कैसा होगा?'—या 'आत्मा ऐसा होगा?' इस प्रकार कल्पनारूप नहीं, परन्तु 'मैं ऐसा ही हूँ' इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूतिरूप उसका ज्ञान निःशङ्क हो जाता है। उसका स्वानुभव-प्रमाण ऐसा प्रबल है कि और किसी प्रमाण को खोजने की जरूरत नहीं रहती। जगत के अन्य सामान्य जीव देखे या न देखे, पर वह स्वयं अपनी अनुभूति को साक्षात् जानता है, इसलिए 'सम्यक्त्ववन्त जीव निःशङ्क तथा निर्भय होते हैं।'

✧ ✧ ✧

जिसने अनुभवज्ञान के द्वारा अपने शुद्धस्वरूप की अपरम्पार महिमा पहचान ली, उसका चित्त अब संसार के किसी पदार्थ के प्रति ललचता नहीं है। अरे, उस आराधक जीव के मोक्ष साधते

www.vitragvani.com

बीच में कदाचित् उत्कृष्ट पुण्य का संयोग आ जाय तो भी उसमें उसे कुछ भी सुन्दरता प्रतीत नहीं होती, और न उसके द्वारा उसे आत्मा की किञ्चित् भी महत्ता मालूम होती। उसे अपने स्वतत्त्व की ही महिमा ऐसी होती है कि अन्य सभी से उसे निरन्तर उदासीनता ही रहती है। अहो! चैतन्यस्वरूप का सञ्चेतन करनेवाली मेरी ज्ञानचेतना, राग को कैसे उत्पन्न करे? एवं अन्य परवस्तु को करने की तो बात ही क्या? परपदार्थ मेरी निकट हो या दूर हो, किन्तु मेरा यह स्वतत्त्व तो उनसे हमेशा निराला ही है; वह स्वयं अपने से ही शोभित हो रहा है। मेरे स्वतत्त्व की अद्भुत सुन्दरता अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखती—इस प्रकार वह स्वयं अपने में ही तृप्त रहता है।

—किसी अज्ञानी जीव को जरूर प्रश्न उठेगा कि क्या वे ज्ञानी जीव राज्य नहीं करते? गृहसंसार या व्यापार-धन्धे में शामिल नहीं होते? क्या भरत चक्रवर्ती आदि ने यह सब नहीं किया था?

—अरे रे! बापू! ज्ञानी की ज्ञानदशा को तूने नहीं पहचाना। जो कार्य तेरे देखने में आये, वे सब रागपरिणति के कार्य हैं, ज्ञानपरिणति के वे कार्य नहीं हैं। ज्ञानपरिणति और रागपरिणति दोनों के कार्य सर्वथा भिन्न हैं। ज्ञानपरिणति में तन्मय ज्ञानी, स्वद्रव्य की चेतना के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु में तन्मयता नहीं करता; अतः उसका वह अकर्ता ही है। हाँ, अस्थिरता-अपेक्षा से उसके जो राग-द्वेष के परिणाम हैं, इतना दोष है, परन्तु ज्ञानचेतना उससे भिन्न है। उस चेतना को तू पहचान, तब तुझे ज्ञानी की अन्तरङ्गदशा की पहचान हो और तुझमें ऐसी ज्ञानदशा प्रकट हो जाय।

www.vitragvani.com

इसी प्रकार ज्ञानी, मन्दिर में हो, जिनदेव का पूजन करता हो, उस समय भी उसकी ज्ञानचेतना उस शुभराग से भिन्न ही वीतरागी कार्य करती-करती मोक्ष की साधना कर रही है। अत: राग के समय भी उसे मोक्षमार्ग प्रवर्तमान है। राग स्वयं कदापि मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु उस समय जो ज्ञानचेतना और सम्यक्त्वादि भाव जीवन्त हैं, वही मोक्षमार्ग है। वाह! धन्य है मोक्ष का पथिक! धन्य उसके अतीन्द्रिय भाव!!

अहो! ज्ञानी की इस दशा का विचार करने पर, मुमुक्षु की विचारधारा राग से अलग होकर चैतन्य की ओर झुकने लगती है... इसके बाद क्या होता है?—उसकी राग और ज्ञान की भिन्नता का वेदन होकर, ज्ञान की अनुभूति होती है; और इसके बाद उसी की अनुभूति करते-करते, संसार से छूटकर वह मुक्त होता है। तत्त्वज्ञ श्रीमद् राजचन्द्रजी इस बात का सबूत देते हैं कि—

जब प्रगटे सुविचारणा, तब प्रगटे निज ज्ञान।
उसी ज्ञान से मोहक्षय, होता पद निर्वाण॥

●

एक क्षणभर के स्वानुभव से ज्ञानी के जो कर्म टूटते हैं, अज्ञानी के लाख उपाय करने पर भी इतने कर्म नहीं टूटते। सम्यक्त्व और स्वानुभव की ऐसी कोई अचिन्त्य महिमा है। यह समझकर रे जीव! उसकी आराधना में तू तत्पर हो।

www.vitragvani.com

जिज्ञासु का प्रथम कर्तव्य : आत्मतत्त्व का निर्णय

[सम्यक्त्व-जीवन लेखमाला : लेखांक 12]

सुख कहो या सम्यक्त्व कहो—वह जीव को प्रिय है। जिसमें सुख भरा है—ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप का सच्चा निर्णय ज्ञान द्वारा करना ही सम्यक्त्व की विधि है; जिसने ऐसा निर्णय किया, उसे पात्रता होकर उसे अन्तर में अनुभव होगा ही।

जिज्ञासु को सम्यग्दर्शन होने के पूर्व संसार के दु:खों से त्रस्त होकर आत्मा का आनन्द प्रगट करने की भावना जागृत होती है।

हे भाई! तू सुखी होना चाहता है न? तो तू अपने सच्चे स्वरूप को पहचान—कि जिसमें सच्चा सुख भरा है। आत्मा के स्वरूप का प्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे! तू कौन है? क्या क्षणिक पुण्य-पाप का कर्ता ही तू है? नहीं, नहीं; तू तो ज्ञान करनेवाला ज्ञानस्वभावी है। पर को ग्रहण करनेवाला या त्याग करनेवाला तू नहीं है; चेतकभाव ही तू है। आत्मा का ऐसा निर्णय, वही धर्म के प्रथम प्रारम्भ का (सम्यग्दर्शन का) उपाय है। ऐसा निर्णय न करे, तब तक जीव सम्यग्दर्शन की पात्रता में भी नहीं आया। मेरा सहजस्वभाव जानने का है—ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय, श्रुतज्ञान के बल से होता है, और वही सम्यक्त्व की रीति है। जिसने अपने ज्ञान में सच्चा निर्णय किया, उसे पात्रता हुई और उसे आत्म-अनुभव होगा ही; इसलिए तत्त्वनिर्णय ही जिज्ञासु जीव का प्रथम कर्तव्य है।

www.vitragvani.com

मैं ज्ञानस्वभावी ज्ञाता हूँ। ज्ञेय में कहीं भी राग-द्वेष करके अटकना, ऐसा मेरा ज्ञानस्वभाव नहीं है। परवस्तु चाहे जैसी हो, मैं तो उसका केवल जाननेवाला हूँ। मेरा ज्ञातास्वभाव, पर का कुछ भी करनेवाला नहीं है। ज्ञानस्वभाव के साथ मुझमें श्रद्धा-शान्ति -आनन्द आदि अनन्त स्वभाव हैं। जिस प्रकार मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, वैसे जगत के सभी आत्मायें ज्ञानस्वभावी हैं। उसमें वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके ज्ञानभावरूप परिणमें, तभी उसका दु:ख दूर हो और वे सुखी हों। परजीवों का दु:ख मिटानेवाला कोई नहीं है क्योंकि उन्होंने स्वयं अपनी ही भूल से दु:ख उत्पन्न किया है, और यदि वे अपनी भूल को दूर करें तो उनका दु:ख दूर हो। किसी पर के लक्ष्य से रुकने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है।

अरे जीव! अब तक अपने सुख को भूलकर तूने पर में सुख माना; तेरी भ्रमणा से ही तू भूला और दु:खी हुआ। अरे, स्वपद को दुर्गम और परपद को सुगम मानकर स्वपद की अरुचि की, और परपद को अच्छा मानकर, उसको अपना बनाने की व्यर्थ चेष्टा करते-करते दु:खी हुआ। परवस्तु तो कभी आत्मा की नहीं होती। चैतन्यमय स्वपद है। बार-बार उस स्वपद का परिचय करने से वह सहज सुगम और सुन्दर मालूम होता है। बार-बार उसकी भावना करने में आनन्द होता है। चैतन्यपद स्वयं आनन्दरूप है— ऐसा जानकर बारबार उसकी भावना करो। शुद्ध चैतन्यमय मेरा स्वपद है—ऐसी आत्मभावना में प्रवर्तित मुमुक्षु जीव, जगत की किसी भी प्रतिकूलता से भयभीत नहीं होता; आत्मा को सबसे अलग करके ज्ञानस्वभाव का निर्णय करता है। अहा! अनन्त सुख का धाम मेरा चैतन्यतत्त्व है—उसे वेदन मैं किस प्रकार करूँ?—

www.vitragvani.com

ऐसी धुन उसे जगती है। चैतन्य पद को ही चाहता हुआ, दिन-रात उसके अनुभव की भावना भाता है। जगत में सुख का धाम यदि कोई है तो यह मेरा चैतन्यपद ही है।—इस प्रकार अपना विश्वास करते हुए स्वसन्मुख झुकता जाता है। विश्वास के जोर से ज्यों-ज्यों अन्तर में धुन बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आनन्द का धाम उसको अपने भीतर निकट में ही दिखने लगता है।

उस पात्र जीव ने श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा के ज्ञानस्वभाव को अव्यक्तरूप से लक्ष्य में लिया है, अत: स्वभावसन्मुख झुका है—सम्यक्त्व सन्मुख हुआ है; परिणमन के प्रवाह की दिशा बदल चुकी है; अन्तर में आगे बढ़कर अनुभव के द्वारा उसे आत्म-साक्षात्कार अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। इसके लिये वह जीव क्या करता है ?

आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, इन्द्रियों और मन के द्वारा पर की ओर प्रवर्तमान बुद्धियों को रोककर, उपयोग को आत्मा में ले जाता है, अर्थात् उपयोग को आत्मसन्मुख करता है, तब साक्षात् निर्विकल्प अनुभूति में भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है। ज्ञान के द्वारा जो निर्णय किया था, उसका यह फल प्राप्त हुआ—प्रगटरूप अनुभव हुआ। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से ऐसा फल अवश्य प्राप्त होता ही है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना, वह अपूर्व भाव है। वह प्रत्येक मुमुक्षु का आवश्यक कर्तव्य है। देखो, अमुक शुभराग करना, उसे कर्तव्य नहीं कहा, परन्तु ज्ञान में आत्मा का निर्णय करना, उसे कर्तव्य कहा; अर्थात् ज्ञानभाव ही स्वानुभव का साधन

www.vitragvani.com

है, बीच में होनेवाला राग, वह कुछ साधन नहीं है। ऐसे सत्य साधन के द्वारा जो अपने आत्मा का हित करना चाहे, वह कर सकता है, परन्तु जीव ने अनादि काल से अपने हित की परवाह ही नहीं की। हे भाई! तू स्वयं कौन वस्तु है? यह जाने बिना तू सुख कहाँ से लायेगा? और सम्यग्दर्शन किसका करेगा? प्रथम तो यह निर्णय कर ले कि मैं तो ज्ञानस्वभावी ही हूँ। देह या रागस्वरूप मैं नहीं हूँ।—ऐसा निर्णय करते ही तेरा लक्ष्य अपने आत्मा की ओर जायेगा और तेरा निधान तुझे अपने में ही दिखेगा। भगवान महावीर के सन्देशरूप जो सम्यग्दर्शन-वह तुझे प्रगट होगा।

इन्द्रिय और मन के साथ संलग्न जो उपयोग है, वह आत्मा को प्रसिद्ध नहीं कर सकता; वह मात्र पर को ही प्रसिद्ध करता है। मन और इन्द्रियों से विमुख होकर, आत्मा में अन्तर्मुख होनेवाला उपयोग ही भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करता है... सच्चे स्वरूप में उसका दर्शन (सम्यग्दर्शन) कर लेता है। यही आत्म-अनुभूति है, यही भगवान महावीर का सन्देश है। इसके ही द्वारा भव का अन्त आता है और मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। किसी भी शुभराग से वह शक्य नहीं। सम्यग्दर्शन तो आत्मा का सहज स्वभाव है। अन्य किसी का अवलम्बन उसमें नहीं है।

शुभ-अशुभभाव तो अज्ञानी जीव भी अनादि काल से करता आया है; वह कहीं धर्म का उपाय नहीं है या उससे भव का अन्त नहीं होता। परन्तु उस शुभ-अशुभभाव से रहित ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहिचान करना ही धर्म का उपाय है और इसके द्वारा ही भव का अन्त होता है।

www.vitragvani.com

– सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

– सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा के स्वरस की अपूर्व शान्ति अनुभव में आती है। कषायरहित शान्ति में उपयोग लीन होकर आत्मा का सहज आनन्द प्रगट होता है। अनादि से भवदु:ख की जो भयङ्कर अशान्ति थी, वह मिट जाती है और अपूर्व शान्तिमय चैतन्य-जीवन का प्रारम्भ होता है। अन्तर में आत्मा अपने स्वरूप की कोई परम तृप्ति के सुख का वेदन करता है। मेरा सुख मेरे ही अन्तर में भरा पड़ा है-इस प्रकार उसे अतीन्द्रियसुख के अनुभव -सहित प्रतीति होती है। सम्यग्दृष्टि जीव के परिणाम में कोई अचिन्त्य अपूर्व गाम्भीर्य होती है। उसकी गहराई का नाप ऊपरी दृष्टि से नहीं हो सकता। ऐसा जो सम्यग्दर्शन है, वह अभेदरूप से आत्मा ही है।

सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभिन्न हैं। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनस्वरूप है। ऐसे सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभावी आत्मा को अनुभव में लेने के बाद भी अशुभ या शुभ कषायभाव तो होते हैं, परन्तु आत्मशान्ति तो ज्ञानभाव में ही है—ऐसा निश्चय बना रहता है। ज्यों-ज्यों ज्ञानभावना बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों शुभाशुभ कषायभाव भी नष्ट होते जाते हैं और शान्ति का वेदन बढ़ता जाता है। अन्तर में शान्तरस की ही मूर्ति आत्मा है, उसके लक्ष्य से जो वेदन होता है, वही सुख है और ऐसे सुख का वेदन सम्यग्दर्शन में है। एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव, वही सम्यग्दर्शन है।

—ऐसा अपूर्व शान्तिस्वरूप सम्यग्दर्शन जयवन्त हो। ●

www.vitragvani.com

दुःखों से त्रस्त जिज्ञासु, शान्ति का पिपासु होकर
शीघ्रता से आनन्दधाम की ओर दौड़ता है

[सम्यक्त्व जीवन लेखमाला : लेखांक 13]

सम्यक्त्व के लिये प्रयत्नशील आत्मा प्रथम इतना विश्वास करता है कि जगत में सुख का धाम यदि कोई हो तो वह मेरा चैतन्यपद ही है। ऐसे स्व-विश्वास के बल पर जैसे-जैसे अन्तर में उसकी लगन बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आनन्द का धाम उसको अपने भीतर में निकट ही निकट दिखने में जाता है; और अन्त में, उसकी लगन की पराकाष्टा होने पर, जिस प्रकार तृषातुर हिरन, पानी का सरोवर देखते ही उस तरफ दौड़े, उसी प्रकार उसकी परिणति वेगपूर्वक शीघ्रता से आनन्दमय स्वधाम में प्रविष्ट होकर सम्यक्त्व से आनन्दित होती है।

सम्यग्दर्शन होने के पूर्व आत्मसन्मुख जीव का रहन-सहन तथा विचारधारा किस प्रकार की होती है ? और सम्यग्दर्शन होने के बाद उसका रहन-सहन तथा विचारधारा किस प्रकार की होती है ? — यह जानना जिज्ञासु के लिये बहुत उपयोगी और आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि के अन्तर में विद्यमान भेदज्ञान के भावों को कोई विरले ही पहचानते हैं, परन्तु जो पहचानते हैं, वे निहाल हो जाते हैं।

जिसकी अन्तरङ्ग परिणति चैतन्य की शान्ति के लिये तड़प रही है, चौबीसों घण्टे सतत जिसको आत्मस्वरूप की ही लगन है, कषायों की अशान्ति से जो अत्यन्त थका हुआ है, जिसका वैरागी हृदय भव-तन-भोगों से पार ऐसे कोई परमतत्त्व को खोज रहा है, और इसके लिये सर्व परभावों से दूर... अति दूर ऐसी निज -चैतन्यगुफा में प्रवेश करने के लिये तत्पर हुआ है, सच्ची शान्ति

www.vitragvani.com

का मार्ग बतानेवाले देव-शास्त्र-गुरु पर जिसकी पूर्ण श्रद्धा है, और उनके पास जाकर अन्य सब अभिलाषाओं को छोड़कर महान निजवैभव की प्राप्ति के लिये जो पुकार करता है—ऐसी अन्तरङ्ग विचारधारावाला जीव, आत्मसन्मुख धारा के द्वारा अल्प समय में ही अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और महान शान्ति का वेदन करता है। अहो! सम्यग्दर्शन होने के पूर्व ऐसे आत्मसन्मुख मुमुक्षु जीव का भी रहन-सहन एवं विचारधारा में कोई अलौकिक परिवर्तन हो जाता है।

वह जिज्ञासु जीव सोचता है कि अरे! अज्ञानभाव से देह के लिये मैंने अनेक जीवन गँवाये और मैं दु:खी हुआ। अब तो इस भवदु:ख से छूटने के लिये आत्मा के निजकल्याणार्थ सर्वस्व अर्पण करके यह एक जीवन तो ऐसे व्यतीत करूँगा कि अनन्त काल की मेरी भूख दूर हो जाय और मुझे अपूर्व शान्ति प्राप्त हो। यह दुर्लभ मनुष्य भव और ऐसे उत्तम देव-गुरु-धर्म को पा करके भी यदि मैं अपना हित नहीं करूँगा तो फिर मेरे दु:ख का कहीं भी अन्त नहीं आयेगा और संसार में कहीं भी शान्ति नहीं है; इसलिए इस जीवन का प्रत्येक क्षण अपने आत्मा के हित के लिये ही मैं व्यतीत करूँगा।

—इस प्रकार आन्तरिक पुकार करता हुआ जो जिज्ञासु, अतीन्द्रिय-आनन्द का तीव्र चाहक बना हो, उसे अन्यत्र कहीं भी रस नहीं आता; वह चैतन्य के ही परमरस की पुष्टि करता है। संसार के कलबलाहट को छोड़कर, अन्तर में एक आत्मप्राप्ति का ही ध्येय है; आत्मा के अनुभव के लिये उसके अन्तर में उथल-पुथल मची रहती है। अनादि से जिन विषय-कषायों में

www.vitragvani.com

मग्न था, वे अब बिल्कुल रसहीन मालूम पड़ते हैं; और अनादि से जो आत्मस्वरूप बिल्कुल अपरिचित था, वह अब परिचित होने लगता है; उसके परिचय में मन लगता है। जगत के कोलाहल से थकित उसका चित्त, आत्मशान्ति को निकट में ही देखकर उसके प्रति एकदम उल्लसित होता है। जैसे, माता के लिये तड़फता बालक, माता को देखकर आनन्द से उल्लसित होता है, और शीघ्र दौड़कर उसका आलिङ्गन करता है; वैसे आत्मा के लिये तड़फता मुमुक्षु का चित्त, आत्मा को देखकर आनन्द से उल्लसित होता है और तुरन्त अन्तर्मुख होकर उससे भेंटता है। जिस प्रकार तृषातुर हिरन, पानी के तालाब की ओर दौड़ता है, उसी प्रकार आत्मपिपासु जीव की परिणति, शान्ति के धाम की ओर वेगपूर्वक दौड़ती है।

वह मुमुक्षु, अन्य ज्ञानियों की अनुभूति की बात परम प्रेम से सुनता है। अहो! ऐसी अद्‌भुत अनुभूति! इस प्रकार उसका चित्त उसी में तत्पर होता है। बस, अब अनुभव को देरी नहीं, काम चालू हो गया है, बहुत ही अल्प समय में कार्यसिद्धि होगी-सम्यग्दर्शन होगा; इस प्रकार परम उत्साहपूर्वक वह अपने कार्य को साधता है।

मेरा चैतन्यभगवान आत्मा, देह से भिन्न है; राग से पार है-इस प्रकार जब आत्मा की प्रभुता ज्ञानी के श्रीमुख से सुने और अन्तर में विचार करे कि तुरन्त ही उसको अपनी प्रभुता अपने में दिखने लगती है कि अहो! मुझमें ऐसी प्रभुता! तो अब उसी में क्यों न रहूँ? अब एक क्षण भी दु:ख में क्यों रहूँ? इस प्रकार उसके अन्तर में एकदम चोट लग जाती है। मेरा ऐसा निजस्वरूप होने पर भी मैंने अभी तक उसको न पहचाना, परन्तु अब तो मेरे आत्मकल्याण का उत्तम अवसर आ गया है—यह अवसर अब मैं व्यथ नहीं जाने

www.vitragvani.com

दूँगा। अब सदा के लिये इस भवदु:ख से छूटकर आत्मा में ही विश्राम करना है, और उसके शान्त निर्विकल्परस का ही पान करना है।

'वाह! देखो तो सही, सच्चे मुमुक्षु की आत्मजिज्ञासा'

उस जिज्ञासु जीव को होवे सद्गुरु बोध;
पाये वह सम्यक्त्व को, वर्ते अन्तरशोध॥

वह सम्यक्त्वसन्मुख जीव, चैतन्य में अन्तर्मुख होकर अन्तर्शोधन करता है कि मेरा चैतन्य ज्ञायकतत्त्व सबसे असङ्ग केवल आनन्दमूर्ति है और रागादि क्षणिकभाव तो नये-नये आते हैं, फिर चले जाते हैं। मेरा चैतन्यभाव उनसे भिन्न है, वह विभावरूप कभी नहीं होता। विकल्प का कोलाहल, शान्त चैतन्य में प्रवेश नहीं करता। जिस प्रकार बर्फ में जिधर भी देखो शीतलता ही भरी है; वैसे मेरे चैतन्य में भी जहाँ देखूँ, वहाँ सुख-आनन्द-शान्ति की शीतलता का ही वेदन होता है—इस प्रकार उस चैतन्य का स्व -संवेदन करके सम्यग्दृष्टि होता है।

चमकीला हीरा जहाँ भी हो, उसकी कीमत तो एक समान ही रहती है। इस प्रकार चैतन्य-हीरा किसी भी शरीर के बीच में, संयोग के बीच में या राग के बीच में हो तो भी उसके चैतन्यभाव की कीमत एक समान ही है। चैतन्यभाव तो उन सबसे अलग ही अलग चैतन्यभावरूप ही रहता है, वह अन्यथा नहीं होता; परभाव से लिप्त नहीं होता।

सम्यग्दर्शन के पहले मुमुक्षु की आत्मिक विचारधारा अति उग्र होती है—जिस प्रकार राजपूत केसरिया करें, उसी प्रकार

www.vitragvani.com

आत्मा के लिये उसने स्वार्पण किया है—स्वार्पण करके वह आत्मा में लग जाता है और मोह को तोड़कर सम्यग्दर्शन पाकर विजेता 'जिन' बन जाता है। भले ही छोटा, किन्तु वह 'जिन' है।

—ऐसी सम्यक्त्वरूप जिनदशा की झँखनावाले मुमुक्षु को सबसे अलिप्त रहने की वृत्ति होती है। जहाँ चैतन्यभावना की पुष्टि हो, ऐसा सङ्ग ही उसे हितकारी मालूम होता है। 'मुझे अपने शुद्धात्मा का दर्शन करना है' बस, वही एक लगन रहती है, गुरु से भी बारबार यही प्रश्न पूछता है और यही बात सुनता है कि मुझको आत्मप्राप्ति कैसे हो? 'माँ' से अलग हुए बालक को जैसे 'मेरी माँ' 'मेरी माँ' वह एक ही रटन रहता है, उसके सिवाय अन्यत्र कहीं भी उसे चैन नहीं पड़ता; उसकी दृष्टि अपनी माँ की ही शोध में लगी रहती है और वह मिलते ही तुरन्त दौड़कर अत्यन्त प्यार से उसके गले लग जाता है। इसी प्रकार आत्मा की स्वानुभूतिरूपी माता, उससे बिछुड़े हुए मुमुक्षु को 'मेरा आत्मा' 'मेरा आत्मा'—ऐसी एक ही लगन रहती है; उसकी ही खोज में वह अपनी पूरी शक्ति लगाता है; इसके सिवा और किसी में भी उसे चैन नहीं होता। स्वाध्याय-विचार-श्रवण-पूजा-गुरुसेवा आदि सभी कार्य के करते हुए भी उसकी नजर अपने स्वरूप को ही खोजती रहती है और जहाँ वह लक्ष्यगत हुआ कि शीघ्र तत्क्षण ही उपयोग को उसमें लगाकर परम प्रेम से उसे भेंटकर तद्रूप बन जाता है। बस! ऐसी अनुभूति, यही सम्यग्दर्शन है और वही मुमुक्षु का सच्चा जीवन है।

अन्तर में ऐसे अलौकिक आत्मजीवन के साथ उसका लौकिक जीवन भी बहुत उच्च कोटि का होता है। जैसी शान्ति मुझे प्राप्त हुई, वैसी शान्ति सभी जीवों को प्राप्त हो, मेरे निमित्त से जगत में किसी

www.vitragvani.com

को भी दु:ख न हो, और मुझे कहीं भी राग-द्वेष न हो; अरे! जिनसे मेरी अन्यन्त भिन्नता, जिनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं—ऐसे ये सभी परद्रव्य—उनमें प्रीति-अप्रीति करने से क्या? व्यर्थ राग-द्वेष करके मैं दु:खी क्यों होऊँ? इस प्रकार भेदज्ञान के बल से उसे वीतरागता की भावना होती है; देव-शास्त्र-गुरु-साधर्मीजन, उन सबके प्रति उसे प्रमोद भाव आता है। अहो! भयङ्कर भवदु:ख से छुड़ाकर जिन्होंने जीवन का सर्वस्व दिया, अपूर्व सम्यक्त्व दिया—उनके उपकार का क्या कहना? इस प्रकार देव-गुरु का परम उपकार मानता हुआ और सर्व जीवों का हित चाहता हुआ वह मुमुक्षु, पूर्ण शुद्धात्म-प्राप्ति के ध्येय की ओर ही आगे बढ़ता जाता है, स्वध्येय को कभी भी नहीं चुकता।

अहो! सम्यक्त्व-जीवन की अपार महिमा का क्या कहना? शास्त्रों ने स्थान-स्थान पर उसके गीत गाये हैं परन्तु शब्दों से उस स्वसंवेद्य वस्तु का कितना वर्णन हो सके? जिसने किसी धन्य क्षण में चैतन्यरत्न को परख लिया और सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उस ज्ञानी-धर्मात्मा की दशा आश्चर्यकारी है!... जगत में सर्वश्रेष्ठ ऐसे सम्यक्त्व-रत्न को प्राप्त करनेवाले उस ज्ञानी को आत्मप्राप्ति का अपूर्व आनन्द होने पर भी, इतने से ही वह पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हो जाता, परन्तु पूर्णता की भावनापूर्वक वह उसके लिये प्रयत्नशील रहता है। अहो! मेरे त्रिकाली स्वभाव में केवलज्ञान और सिद्धपद के पूर्णानन्द से भरी अनन्ती पर्यायरूप होने की ताकत है—मैंने उसको पहचान लिया, तब फिर मैं उस अल्प पर्याय में सन्तोष क्यों मान लूँ? कहाँ सर्वज्ञ भगवन्त! कहाँ महा ऋद्धिधारी मुनिभगवन्त! मैं तो उनका दासानुदास हूँ, और मुझे ऐसी धन्यदशा कब हो!!

www.vitragvani.com

उसकी भावना करता हूँ। इस प्रकार धर्मीजीव को सम्यक्त्व के पश्चात् धर्मवृद्धि की उत्तम विचाराधारा होती है।

जीव चारों गति में सम्यग्दर्शन पा सकता है। चार में से किसी भी गति में सम्यग्दृष्टि हो, इन सभी सम्यग्दृष्टि की आत्मप्रतीति समान ही है... सम्यक्त्व का आनन्द भी समान होता है, तत्त्व -निर्णय भी समान है... संयोग चाहे जो भी हो, सभी सम्यग्दृष्टि जानते हैं कि 'शुद्धोऽहं, चिद्रूपोऽहं, निर्विकल्पोऽहं'—मैं शुद्ध चैतन्यरूप हूँ, बाहरी किसी भी वस्तु का स्पर्श मुझे नहीं है। पहले अज्ञानदशा में मेरी पर्याय रागादि को स्पर्श करती थी, अब वह राग से भिन्न ज्ञानरूप होकर, ज्ञानस्वभावी आत्मा का स्पर्श करके परभावों से अलिप्त बन गई... जिस तरह पानी के बीच भी कमलपत्र पानी से अलिप्त रहता है; उसी प्रकार रागादि के बीच तथा बाह्य संयोगों के बीच भी सम्यग्दृष्टि का चैतन्यभाव उन सबसे अलिप्त है; इसलिए उसे ही सच्चा वैराग्य है! भले ही उत्कृष्ट शुभराग हो, फिर भी उसमें उसकी चेतना तन्मय नहीं होती, अलग ही रहती है। चैतन्य की शान्ति के पास सब रागादि कषायभावों का वेदन उसे अग्नि समान दिखता है; इसलिए उनसे भिन्न ऐसे चैतन्य के समरस को ही निजरसस्वरूप वेदन करता है। [राग आग दहै सदा... तातें शमामृत सेइये।]

अहा! ऐसे साधक जीवों की शान्ति को देखकर अन्य जीवों को भी आत्मसाधना की प्रेरणा प्राप्त होती है! महाभाग्य से हमें वर्तमान में भी ऐसे शान्तरसमय सम्यग्दृष्टि जीव सोनगढ़ में साक्षात् दृष्टिगोचर होते हैं; उन्हें हमारी वन्दना हो! ●

www.vitragvani.com

आत्मसन्मुख जीव

[सम्यक्त्व-जीवन लेखमाला : लेखांक 14]

दु:ख से थका हुआ और अन्दर से पुकार करता जिज्ञासु जीव, अतीन्द्रिय आनन्द का तीव्र वांछक बना है। उसे संसार की कलबलाहट छोड़कर अन्तर में आत्मप्राप्ति का एक ही ध्येय है। दुनिया के कोलाहल से थकित उसका चित्त आत्मशान्ति समीप में देखकर उस ओर एकदम उल्लसित होता है। जैसे माता के लिये तरसता बालक माता को देखते ही आनन्द से उल्लसित होता है और दौड़कर उससे लिपट पड़ता है; इसी प्रकार आत्मा के लिये तरसता मुमुक्षु का चित्त, आत्मा को देखकर आनन्द से उल्लसित होता है और शीघ्र अन्दर में जाकर उसका साक्षात्कार करता है। वह मुमुक्षु दूसरे ज्ञानियों की अनुभूति की बात परम प्रीति से सुनता है : अहो, ऐसी अद्‌भुत अनुभूति!— ऐसे परम उत्साह से वह अपने स्वकार्य को साधता है।

अनादि से चार गति में भ्रमण करना जीव, मोह से-कषाय से दु:खी हो रहा है; दु:ख में भ्रमण करते-करते उसे थकान लगी और उसकी विश्राम की-शान्ति की झंखना पैदा हुई; वह सुख-शान्ति की खोज करने लगा। वहाँ महान पुण्ययोग से उसे सच्चे देव-गुरु की भेंट हुई। गुरु के चरणों में सर्वस्व अर्पण किया, उनकी आज्ञा शिरोमान्य की; और आत्मा के हित की जिज्ञासा से गुरु से सविनय प्रश्न किया—'हे प्रभो! मेरे आत्मा को शान्ति कैसे हो? पुण्य-पाप करके चारों गति में भ्रमण करते करते मैं थक गया, फिर भी मुझे कहीं भी शान्ति न मिली; तो वह शान्ति कहाँ छिपी हुई है?—यह मुझे बताईये, क्योंकि आपका आत्मा शान्ति को प्राप्त हुआ है, अत:

www.vitragvani.com

आप ही मुझे उसका सच्चा मार्ग बतलायेंगे।' इस प्रकार गुरु पर विश्वस्त होकर शिष्य ने पूछा। तब गुरु उस सच्चे जिज्ञासु को कुछ भी बात गोप्य रखे बिना ऐसा तत्त्व समझाते हैं कि जो समझने से जीव को अवश्य अपूर्व शान्ति प्राप्त हो।

उसे सुनकर शिष्य न्याय और युक्ति से आत्मा के स्वरूप के बारे में विचारता है और गुरु के बताये अनुसार अन्तर के वेदन में शान्ति की खोज करता है। उसे गृहीतमिथ्यात्व छूट गया है, अर्थात् वह अब विपरीत मार्ग पर नहीं जाता; वह जिनमार्गानुसार नवतत्त्व का श्रद्धान करता है; जड़ और चेतन का भेदज्ञान करता है। चैतन्यभाव और रागभाव की भिन्नता का गहरा चिन्तन करता है; द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रहित ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को लक्ष्य में लेता है; उसमें उसकी शान्ति दृश्यमान होती है, इसलिए उसे आत्मा की ही धुन लगी है; और अन्य सभी से उदासीनता बढ़ती जाती है। बार-बार आत्मा का स्मरण-चिन्तन करके परिणाम को शान्त करता जाता है। देव-गुरु को देखकर उनकी अतीन्द्रिय शान्ति को लक्ष्यगत करता जाता है। शास्त्र में से भी शान्तरस को ही पुष्ट करता जाता है; इस प्रकार उसे देव-गुरु-शास्त्र की ओर उत्साह भी बढ़ता जाता है और उनमें अधिकाधिक गहराई दृश्यमान होती है। आत्मरस ऐसा मधुर मालूम होता है कि संसार का महान प्रलोभन भी उसे आत्मरस से च्युत नहीं कर सकता। कैसे भी प्रतिकूल संयोग आ पड़ें, फिर भी कषाय का रस बढ़ाये बिना वह समाधान कर लेता है। संसार के मिथ्या सुखों के पीछे अब यह पागल नहीं होता, भीतर से उनका रस छूट गया है, इसलिए उनके लिये तीव्र आरम्भ-समारम्भ या अनीति-अन्याय भी वह नहीं

www.vitragvani.com

करता। निवृत्तिपूर्वक तीर्थस्थानों में या सत्सङ्ग में रहकर आत्मसाधना करना उसे सुहाता है। वह उपयोग को निर्विकल्प करने के लिये तथा आत्मा की अनुभूति के लिये आत्मा की ओर आगे बढ़ता जाता है। विचारधारा को विशेष-विशेष सूक्ष्म करके आत्मा को परभाव से भिन्न करता है, अनेक प्रकार से आत्मा की सुन्दरता और गम्भीरता लक्ष्य में लेता है। अहो! मेरा आत्मतत्त्व कोई अगाध गम्भीर अद्भुतभावों से पूर्ण है। अनुभव करने में बीच में कौन से परिणाम मेरे को विघ्न कर रहे हैं? तत्सम्बन्ध में बिना दम्भ किये सरलता से अपने परिणाम का संशोधन करता है और विघ्नकारी परिणामों को तोड़कर स्वरूप में पहुँच जाता है। नव तत्त्वों का स्वरूप समझकर उनमें से सारभूत तत्त्व का ग्रहण करता है। इस प्रकार स्वभाव का ग्रहण करता और परभावों को पृथक् करता वह जीव, अन्त में सर्व परभावों से भिन्न और निज स्वभावों से परिपूर्ण —ऐसे आत्मतत्त्व को खोज करके उसका सम्यग्दर्शन कर लेता है; उसके मुक्ति के दरवाजे खुल जाते हैं।

सम्यग्दर्शन होने के बाद :—

अहो! यह आत्मपुरुषार्थी जीव अपने स्वकार्य को साधने में सफल हुआ। उसका ज्ञान, विकल्प से भिन्न हुआ; उसे आत्मा का साक्षात् दर्शन हुआ; अपने सत्यस्वरूप का ज्ञान हुआ; परिणाम में कषायरहित अपूर्व शान्ति हुई। प्रथम, अपूर्व क्षण के उस निर्विकल्प अनुभव के समय उपयोग इन्द्रियातीत होकर अपने आत्मा को ही चेतता था। 'मुझमें सम्यक्त्व प्रगट हुआ है और मेरा आत्मा शान्ति का वेदन करता है'—ऐसा भेद भी उस समय नहीं रहा था; आत्मा स्वयं अनन्त गुण की अनुभूतिस्वरूप ही था; पूर्व में कभी अनुभव

www.vitragvani.com

में नहीं आयी—ऐसी अपूर्व शान्ति का वहाँ वेदन होता था! बाद में उपयोग, अनुभूति में से बाहर आने पर भी वह उपयोग, रागादि के परिचय से अत्यन्त दूर रहता है—राग की दोस्ती उसने सर्वथा छोड़ दी है; अत: राग के समय भी वह उससे अलग रहता है—ऐसे भिन्न (रागरहित) उपयोगस्वरूप से धर्मी सदा निज का अनुभव करता है-श्रद्धा करता है-पहचानता है; अत: राग के समय भी उसके सम्यक्त्वादि भाव जीवन्त रहते हैं, बिगड़ते नहीं। देह से और राग से, सभी से भिन्न उपयोगपरिणमन द्वारा आत्मा को मुक्तरूप से अनुभव करता है। अहो, यह दशा कोई अनुपम अनोखी अद्भुत है।

—ऐसी स्वानुभवदशा होते ही अन्तर में स्वयं को पक्का निश्चय हो चुका कि अब मैं मोक्ष के मार्ग में हूँ; अब संसार के मार्ग में नहीं हूँ। अब मेरे भव का अन्त आ गया; अब मैं सिद्ध-भगवान के समाज में शामिल हो गया। भले ही मैं छोटा हूँ, अभी मेरा साधकभाव अल्प है, तो भी मैं सिद्धभगवान की जाति का ही हूँ। अनुभव में से बाहर निकलने के बाद जो विकल्प उठता है, उससे ज्ञान को भिन्न ही जानता है; अत: ज्ञान स्वयं निर्विकल्प ही रहता है। वह ज्ञान और विकल्प की एकता नहीं करता, ऐसा उसका अकर्ताभाव है। ज्ञानभाव को ही करता हुआ, वह सदा तृप्त और प्रसन्न-प्रशान्त रहता है। ज्ञान के प्रताप से उसका चित्त बिल्कुल शान्त होकर, कषायरहित शीतल चन्दन के समान शोभायमान होता है और जिनदेव के मोक्षमार्ग में वह आनन्द-सह क्रीड़ा करता है—ऐसा वह सम्यग्दृष्टि वन्दनीय है—

www.vitragvani.com

भेदविज्ञान जग्यो जिन्हके घट, शीतल चित्त भयो जिम चन्दन।
केली करे शिव मारग में; जगमांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥
सत्यस्वरूप सदा जिन्हके प्रकट्यो अवदात मिथ्यात निकंदन।
शान्तदशा तिन्हकी पहिचानी, करे कर जोरी बनारसी वंदन॥

अपने अचिन्त्य आत्मवैभव को निज में देखकर धर्मी परम तृप्ति का अनुभव करता है। अहो! आत्मा का पूर्ण वैभव हस्तगत हो गया (-अनुभव में आ गया) उसके समक्ष संसार के अन्य वैभव अत्यन्त तुच्छ दिखते हैं। वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा कदाचित् गृहस्थ भी हो, परिवारसहित हो और व्यापार-रोजगार भी करता हो, किन्तु फिर भी उसकी ज्ञानचेतना उन सबसे जलकमलवत् अलिप्त रहती है; अत: वह कर्मों से लिप्त नहीं होता परन्तु छूटता ही जाता है। यह सब सम्यक्त्व का ही प्रताप है—ऐसा जानकर, हे भव्य जीवो! तुम परम आदरभाव से सम्यक्त्व की आराधना करो और सुखमय जीवन जीओ। ●

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व का अपूर्व क्षण

[सम्यक्त्वजीवन : लेखांक 15]

—और इसके पश्चात् एक ऐसा क्षण आती है कि आत्मा कषायों से छूटकर चैतन्य के परम गम्भीर शान्तरस में मग्न हो जाता है... अपना अत्यन्त सुन्दर महान अस्तित्व पूरा का पूरा स्वसंवेदनपूर्वक प्रतीत में आ जाता है। —बस, यही है सम्यग्दर्शन! यही है मङ्गल चैतन्य प्रभात! और यही है भगवान महावीर का मार्ग!

अहा, इस अपूर्वदशा का क्या कहना? प्रिय साधर्मीजन! आनन्द से आओ प्रभु के मार्ग में!

अज्ञानतिमिरिांधानां ज्ञानांजलशलाकया।
चक्षुरुन्मिलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥

यह जीव, संसार में अनादि काल से भटका है, वह मात्र एक आत्मा के ज्ञान बिना। जीव ने अनेक बार पुण्य-पाप के परिणाम किये हैं, उसमें कुछ आश्चर्य या विस्मय की बात नहीं और इन पुण्य-पाप की बात भी उसे बार-बार सुनने को मिलती है; इसलिए उसका कोई महत्त्व नहीं है, उसमें कुछ हित नहीं है।

अब किसी महान पुण्योदय से जीव को अपने शुद्धस्वरूप की, अर्थात् पाप-पुण्य से पार चैतन्यस्वरूप की बात सुनने को मिली।

ज्ञानी-गुरु के पास से आत्मा का स्वरूप सुनते ही अपूर्वभाव जागृत हुआ कि अहो! ऐसा मेरा स्वरूप है! ऐसा महान सुख -शान्ति-आनन्द-प्रभुता तथा चैतन्य भण्डार स्वयं मुझमें ही भरा पड़ा है।—ऐसा जानकर उसे महान आश्चर्य होता है, आत्मा का अपूर्व प्रेम जागृत होता है और ऐसा सुन्दर अद्भुत स्वरूप बतानेवाले देव-गुरु का वह अपार उपकार मानता है। उसको आत्मा की धुन

www.vitragvani.com

लगती है कि बस, मेरा ऐसा आत्मस्वरूप है, उसे अब किसी भी यत्न से मैं जान लूँ और अनुभव में ले लूँ। इसके बिना मुझे और कहीं भी शान्ति नहीं होगी। अब तक मैं निज को भूलकर परेशान हुआ परन्तु अब भवकटी करके मोक्ष को साधने का अवसर आ चुका है।

—इस प्रकार आत्मा की सच्ची जिज्ञासापूर्वक वह जीव, तत्त्वज्ञान का अभ्यास करता है। मैं कौन हूँ? पर कौन है? हित क्या है? अहित क्या है? इस प्रकार वह भेद का अभ्यास करता है; आत्मा को देहादि से भिन्न लक्ष्य में लेकर अपने परिणाम को बार-बार आत्मसन्मुख मोड़ने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये उस मुमुक्षु का रहन-सहन तथा विचारधारा सतत एक ही आत्मवस्तु की ओर केन्द्रित होने लगती है; अत: उसका रहन-सहन दूसरे जीवों से भिन्न प्रकार का होता है। उसे आत्मा के सिवा अन्यत्र कहीं रस नहीं आता। सर्वत्र नीरसता मालूम होती है; उसे तो बस एक आत्मसन्मुख होना ही सुहाता है। उसके परिणाम में एक प्रकार का परिवर्तन हो जाता है। वह भगवान का दर्शन-पूजन-स्वाध्याय-चिन्तन-मुनिसेवा-दान आदि कार्यों में प्रवर्तता है, परन्तु उसमें भी आत्मा को कैसे समझूँ—यही ध्येय मुख्य रखता है। इस प्रकार सतत आत्मजागृति के द्वारा उस ओर वह आगे बढ़ता है। कभी-कभी आत्मा में नवीन भावों की स्फूरणा होने पर, उसको आन्तरिक उत्साह उछल पड़ता है, उसमें से चैतन्य की चिनगारी झलक उठती है।

अनादि से नहीं जाने हुए आत्मा को जानने से उसे परम उल्लास और अपूर्व तृप्ति होती है कि अहो! मुझे अपना ऐसा अद्भुत निजपद प्राप्त हुआ।

www.vitragvani.com

आत्मा का सच्चा जिज्ञासु होकर उसके लिये जो उद्यम करता है, उसका उद्यम अवश्य सफल होता है और उसे आत्मा की प्राप्ति होती है, महान सुख होता है। इसलिए जिस प्रकार धन का अभिलाषी, राजा को पहचानकर, श्रद्धापूर्वक उसकी सेवा करता है; वैसे मुमुक्षु को ज्ञानस्वरूप जीवराजा को पहचानकर, श्रद्धापूर्वक सर्व उद्यम के द्वारा उसका सेवन करना चाहिए—इससे आत्मा की अवश्य सिद्धि होती है।

सर्व प्रथम उस पद को पाने के लिये उसकी अपार महिमा भासती है; जिसका अनुभव पहले कभी नहीं हुआ—ऐसे अभूतपूर्व आनन्द की अनुभूति के लिये उसे मस्ती जागृत होती है। ज्ञानी की अद्भुत मस्ती को ज्ञानी ही पहचानता है। जिसको उसका स्वानुभव प्राप्त हो, उसे ही उसका भान होता है। बाकी वाणी से, बाह्य चिह्नों से या राग से उसकी पहचान नहीं हो सकती। ज्ञानी की स्वानुभूति का पथ जगत से निराला है। उसकी गम्भीरता उसके अन्तर में ही समायी रहती है। वह अकेला ही अन्तर में आनन्द का अनुभव करता हुआ मोक्षपथ पर चला जा रहा है; उसे जगत की परवाह नहीं रहती। धर्म के प्रसङ्ग में तथा धर्मात्मा के सङ्ग में उसको विशिष्ट उल्लास आता है।

जिनमार्ग के प्रताप से मुझे अपना स्वरूप प्राप्त हुआ; आत्मा में अपूर्व भाव जागृत हुए। अब इस स्वरूप को पूर्णत: प्रगट करके अल्प काल में ही मैं परमात्मा बन जाऊँगा, और इस संसारचक्र से छूटकर मोक्षपुरी में जाऊँगा। जहाँ हमेशा के लिये सिद्धालय में अनन्त सिद्धों के साथ बिराजमान होऊँगा। वाह... धन्य है उस दशा! उसका मङ्गल प्रारम्भ हो चुका है। ●

www.vitragvani.com

अप्रतिहत मुमुक्षु दशा

वह प्रगट करके महावीर प्रभु के मार्ग में आ जाओ

[सम्यक्त्व जीवन-लेखमाला : लेखांक-16]

अहो, मुमुक्षु की विचारधारा ऐसे अपूर्व भाव से चल रही है कि जिसमें राग का रस टूटता जाता है। पूर्व में अनन्त बार ग्यारह अङ्ग तक पढ़कर निष्फल गया; उसकी अपेक्षा उसका ज्ञान कोई नया ही कार्य करता है; इस ज्ञान का संस्कार निष्फल जानेवाला नहीं है; यह ज्ञान रागादि से भिन्न होकर चैतन्य का स्वसंवेदन करेगा ही और वह भी अल्प समय में ही। वाह! ऐसी मुमुक्षुदशा भी धन्य है! वह ऐसी अफर है कि आगे बढ़ती हुई सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त करेगी ही। साधर्मीजनों! वीरनिर्वाण के ढाई हजार वर्षीय इस महान उत्सव के मङ्गल अवसर में ऐसी दशा शीघ्र ही प्रगट करो और महावीर प्रभु के मार्ग में आ जाओ। —ब्र. ह. जैन

सम्यक्त्वसन्मुख जीव की भावना ऐसी उत्कृष्ट होती है कि मुझे ज्ञानी-गुरुओं के पास जाना है; मुझे सन्तों के धाम में रहना है कि जहाँ मुझे मेरे आत्मा का ज्ञान हो और इस भवदुःख से मैं छूटूँ। इस प्रकार अपने हित के लिये आत्मस्वरूप सम्बन्धी नये-नये ज्ञान की उत्कण्ठा उसे बनी रहती है; और गुरु का उपदेश ग्रहण करके उसके अन्तर्विचार से सम्यक्त्व का द्वारा खुल जाता है। उसे ख्याल आ जाता है कि अब आत्म-अनुभूति के लिये अन्तर में मुझे क्या करने का है! ऐसा लक्षगत होने के बाद साक्षात् अनुभूति के लिये उसका चित्त ऐसा लालायित हो जाता है—जैसा वर्षा के लिये किसान, तथा माता के लिये बालक। इस प्रकार का आत्म-

www.vitragvani.com

रटना के द्वारा उसका विचार-विवेक बढ़ता जाता है, आत्मरस बढ़ता जाता है, और उसका उपयोग आत्मस्वरूप की अधिक-अधिक गहराई में उतरने लगता है। बस, अभी इसी क्षण आत्मा का सम्यग्दर्शन प्रगट कर लूँ, यही मेरा कार्य है—ऐसी उग्र उसकी विचारधारा हो जाती है।

उसे भेदज्ञान के विचार के बल से अन्तर में शान्ति होने लगती है—यह शान्ति राग में से नहीं आती, किन्तु अन्तर की किसी गहराई में से आयी है। इस प्रकार अपने वेदन के बल से उसका आन्तरिक मार्ग खुलता जाता है; जैसे-जैसे वह मार्ग अधिक-अधिक स्पष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे उसका आत्मिक उत्साह भी बढ़ता जाता है; अब उसे मार्ग में सन्देह नहीं पड़ता, तथा पन्थ भी अपरिचित नहीं लगता।

—और इसके पश्चात् एक ऐसा क्षण आता है कि आत्मा कषायों से छूटकर चैतन्य के परम गम्भीर शान्तरस में मग्न हो जाता है... अपना अत्यन्त सुन्दर महान अस्तित्व पूरा का पूरा स्वसंवेदनपूर्वक प्रतीति में आ जाता है।—बस, यही है सम्यग्दर्शन! यही है साध्य की सिद्धि! यही है मङ्गल चैतन्यप्रभात! और यही है भगवान महावीर का मार्ग!

✧ ✧ ✧

अहा, इस अपूर्व दशा की शान्ति की क्या बात! प्रिय साधर्मी भाई-बहिनों! सोचिये तो सही, कि जैनशासन के सभी सन्तों ने दिल खोलकर जिसकी भूरी-भूरी प्रशंसा की है, वह अनुभूति कैसी सुन्दर होगी? उस वस्तु को लक्ष्य में लेकर उसका निर्णय

www.vitragvani.com

करो। उसके निर्णय से तुम्हें अपार आत्मबल मिलेगा और तुम्हारा कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जायेगा। अत: बन्धुओं!—

- शीघ्र आत्मनिर्णय करो।
- आनन्दमय अनुभूति करो।
- अपूर्व शान्ति का वेदन करो।
- और मोक्ष के मार्ग में आ जाओ॥

—यही है भगवान महावीर का सन्देश! और यही है उनके निर्वाण महोत्सव की सच्ची अञ्जलि।

॥ जय महावीर॥

स्वानुभव की रंग... और उसकी भूमिका...

जीव को शुद्धात्मा के चिन्तन का अभ्यास करना चाहिए। जिसे चैतन्य के स्वानुभव का रंग लगे, उसे संसार का रंग उतर जाता है। भाई! तू अशुभ और शुभ दोनों से दूर हो, तब शुद्धात्मा का चिन्तन होगा। जिसे अभी पाप के तीव्र कषायों से भी निवृत्ति नहीं, देव-गुरु की भक्ति, धर्मात्मा का बहुमान, साधर्मियों का प्रेम इत्यादि अत्यन्त मन्द कषाय की भूमिका में भी जो नहीं आया, वह अकषाय चैतन्य का निर्विकल्प ध्यान कहाँ से करेगा? पहले समस्त कषाय का (शुभ-अशुभ का) रंग उड़ जाये... जहाँ उसका रंग उड़ जाये, वहाँ उसकी अत्यन्त मन्दता तो सहज हो ही जाती है और फिर चैतन्य का रंग चढ़ने पर उसकी अनुभूति प्रगट होती है। बाकी परिणाम को एकदम शान्त किये बिना ऐसे का ऐसा अनुभव करना चाहे तो नहीं होता। अहा! अनुभवी जीव की अन्दर की दशा कोई और ही होती है!

www.vitragvani.com

आनन्दमय स्वानुभूति प्रकाश

अचिन्त्य आत्म देखा सम्यक् भाव से...
अतिशय आनन्द उलसित शान्तरस धार जब,
जीवन धन्य बना है आतम साधते,
शीघ्र चले मुक्ति सन्मुखी प्रवाह जब...

शान्त.. शान्तरस उल्लसित गुण के धाम में...
अनन्त गुण के रस में डूबे राम जब;
समुद्र कैसा गहरा चैतन्यरस का,
स्वयंभू से भी नहीं माप मपाये जब...

अरिहन्त आये हैं अहो मुझ अन्तर में...
सिद्ध प्रभु भी विराजे साक्षात् जब..
साक्षी सभी साधक सन्त देत हैं,
ऐसी अनुभूति 'है' इन्द्रियातीत जब।

चैतन्य प्रभु पकड़ाये चेतनभाव से,
कभी न होवे चेतन राग-आधीन जब;
दोनों की जहाँ जाति ही भिन्न वर्तती,
गहरे उतरे तो वह भिन्न जनाये जब...

मुमुक्षुता जहाँ जगी सच्ची आत्म की,
परम घोलन ज्ञान ही रस घुंटाये जब..
ज्ञान.. ज्ञान बस! ज्ञान... ज्ञान मैं एक हूँ,
अनन्तभावों ज्ञान मही घोलाय जब...

www.vitragvani.com

ज्ञानस्वाद को बारम्बार घूँटते,
रागभाव का सब रस छूट जाये जब..
ज्ञानमग्न होते जो शान्ति जागती
विकल्प वहाँ सभी भग जायें जब..

अद्भुत अद्भुत अद्भुत वैभव ज्ञान में
अनन्त खोला स्वानुभूति का द्वार जब,
चेतन जाति सच्ची आतम जाति है
केवली में अरु मुझमें नहीं कुछ भेद जब।

अद्भुत कैसा चैतन्यरस इस आत्म का
सर्व क्लेश इससे अति ही दूर जब
भवभ्रमण छूटा और डंका बज गया
मोक्षपुरी का सुख दिखे नजदीक जब...

उथल-पुथल आत्म-असंख्य प्रदेश में
मानों आनन्द का महा धरती कम्प जब..
चैतन्य पाताल गहरे से उल्लसित हो रहा,
मोह पर्वत का हुआ चकचूर जब।

चेतनवन्त जीव साधक देखकर,
जगी जगी चेतनादेवी अपूर्व जब..
चेतना ने तो छोड़ा बाहिरभाव को
लिया लिया एक ही शान्तरस पिण्ड जब...

(स्वानुभूति प्रकाश काव्य के 47 पदों में से)